● प्रकाशक

देवेन्द्रराज मेहता
सचिव
प्राकृत भारती अकादमी,
3826, मोतीसिंह भोमियो का रास्ता,
जयपुर-302003

● पारसमल भंसाली
अध्यक्ष
श्री जैन श्वे नाकोडा पार्श्वनाथ तीर्थ,
मेवानगर, स्टे बालोतरा-344025
जि बाडमेर

● नरेन्द्र प्रकाश जैन
पार्टनर
मोतीलाल बनारसीदास,
बंगलो रोड, जवाहर नगर,
दिल्ली-110007

● हिन्दी अनुवादक : नैनमल विनयचन्द्र सुराणा

● प्रथम संस्करण : अक्टूबर 1989

● मूल्य : रु. 30 00

● मुद्रक : एम. एल. प्रिण्टर्स, जोधपुर

प्रकाशकीय

प्रशान्त मूर्ति पन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य द्वारा सकलित एव अनुदित ज्ञान-वैराग्य एव भक्तिरस से ओत प्रोत "जिन-भक्ति" नामक पुस्तक प्राकृत भारती के 64वे पुष्प के रूप मे प्रकाशित करते हुए हमे हार्दिक प्रसन्नता है।

शास्त्रकार महर्षियो का कथन है कि उपधान तप करने वाले व्यक्ति को उपधान पूर्ण करने के चिन्ह स्वरूप माल्यार्पण से पूर्व यावज्जीवन गुरु के समक्ष त्रिकाल चैत्यवन्दन और जिन-पूजा करने का अभिग्रह अवश्य अगीकार करना चाहिये, अर्थात् प्रात काल जब तक श्री जिन-प्रासाद मे जाकर श्री जिनमूर्ति का वन्दन नहीं करे तब तक मु ह मे पानी भी नहीं डालना चाहिये, मध्याह्न काल मे जब तक जिन-प्रासाद मे जाकर श्री जिनमूर्ति की पूजा नही करे तब तक भोजन नहीं करना चाहिए और सायं-काल मे श्री जिन-प्रासाद मे जाकर श्री जिनमूर्ति के समक्ष धूप-दीप आदि से पूजा न करले तब तक नींद नहीं लेनी चाहिये।

जो व्यक्ति त्रिकाल चैत्यवन्दन का अभिग्रह न ले सकता हो उसे भी नित्य नियमित रूप मे एक वार चैत्यवन्दन करने का अभिग्रह तो लेना ही चाहिये। उपधान मे से निकलने के पश्चात् जो व्यक्ति इतना भी नही करे वह उपधान मे अनेक दिनो तक किये गये तप-जप आदि की उत्तम आराधना को चमका नहीं सकता।

उपधान तप पूर्ण करके बाहर निकलने वाले व्यक्ति को जिन भक्ति की क्रिया नियमित एव अनिवार्य रूप मे करनी चाहिए और जिन-भक्ति के लिए प्रधान आवश्यकता श्री जिन-स्वरूप को पहचानने की है। श्री जिनेश्वर भगवान का स्वरूप इतना उच्च कोटि का है कि ज्यो-ज्यो उनकी हमे पहचान होती जाती है त्यो-त्यो हमारे हृदय मे उनके प्रति भक्ति के

रूप मे प्रकाशित करवाया था। इस पुस्तक की वर्तमान समय मे हिन्दी भाषियो के लिए अत्युपयोगिता देखकर अध्यात्मरसिक पूज्य आचार्य देव श्री विजयकलापूर्णसूरिजी म ने श्री नैनमल विनयचन्द्र सुराणा से गुजराती का हिन्दी अनुवाद करवाकर, "जिनभक्ति की महिमा" रूप उपोद्घात के साथ प्रकाशनार्थ हमे प्रदान की, एतदर्थ हम पूज्य आचार्य श्री की कृपा के अत्यन्त आभारी है।

नरेन्द्र प्रकाश जैन	पारसमल भसाली	देवेन्द्रराज मेहता
पार्टनर	अध्यक्ष	सचिव
मोतीलाल बनारसीदास	जैन श्वे नाकोडा	प्राकृत भारती अकादमी
दिल्ली	पार्श्वनाथ तीर्थ	जयपुर
	मेवानगर	

भगवान के सम्मुख स्तुति करते समय उन्होंने स्वय ने इसका उपयोग किया है ।

तत्पश्चात् कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी द्वारा रचित "अयोग-व्यवच्छेदिका" एव "अन्ययोगव्यवच्छेदिका" नामक दो स्तुतियाँ दी गई है। श्री सिद्धसेन दिवाकर सूरि द्वारा रचित गम्भीर एव गहन स्तुतियो के अनुकरण स्वरूप होने पर भी इन दोनो स्तुतियो को परमोपकारी आचार्य भगवान ने अपनी प्रतिभा से अत्यन्त सरल एव समझ मे आने योग्य स्पष्ट भाषा मे रची है। सम्यक्त्व की परम विशुद्धि एव शासन के प्रति दृढ अनुराग उत्पन्न करने के लिये ये दोनो स्तुतिया अत्यन्त लाभदायक है, ये अत्यन्त प्रवल मिथ्यात्व के विष को उतारने मे समर्थ है तथा कलिकाल के मोहाधकार मे ज्योति भरने के लिये रत्न की दो लघु दीवलियो का कार्य करती है।

तत्पश्चात् कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी के उपदेश से प्रतिबोधित एव श्री अरिहत भगवान के शासन के परम भक्त महाराजाधिराज श्री कुमारपाल भूपाल द्वारा रचित श्री जिनेश्वर भगवान की हृदयद्रावक स्तुति दी गई है। यह स्तुति प्रत्येक भावुक व्यक्ति को श्री जिनेश्वर देव के साथ तन्मय करके भक्ति रस मे सराबोर करने वाली है। इस स्तुति के 33 पद्य है। इसके द्वारा परमात्मा की स्तवना करने वाले भव्यात्मा को आज भी रोमाच होने लगता है। वह ससार का भान भूल कर श्री जिनेश्वर भगवान के साथ एकात्मता अनुभव करता प्रतीत होता है। इस स्तुति को इस कलियुग मे मुक्ति-दूती का उपनाम दिया जाये तो वह सर्वथा सार्थक होगा।

तत्पश्चात् न्यायाचार्य, न्याय-विशारद, महोपाध्याय श्री यशोविजय जी द्वारा रचित "परमज्योति" तथा "परमात्म पचविंशतिका" नामक दो स्तुतियां दी गई है। परमात्म-स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले समस्त ग्रन्थो का सक्षिप्त सार इन दो स्तुतियो मे समाविष्ट है—ऐसा कहने मे कोई अतिशयोक्ति नही होगी। ये दो स्तुतियाँ पाठको मे अपूर्व तत्त्वज्ञान की ज्योति जगमगाने के साथ श्री वीतराग परमात्मा के अद्भुत गुणो का परिचय कराती है।

तत्पश्चात् कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरीश्वर जी की सुप्रसिद्ध रचना "श्री वीतराग स्तोत्र" दी गई है। इसकी रचना परमार्हत् श्री कुमारपाल भूपाल के दैनिक स्वाध्याय के लिये की गई थी। श्री जिन भक्ति के रसिक प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह कण्ठस्थ करने योग्य है और नित्य श्री जिनेश्वर भगवान के सम्मुख स्तुति करने के लिये उपयोगी है। श्री वीतराग स्तोत्र का आजीवन रटन करने वाले व्यक्ति के हृदय मे से मिथ्यात्व का भूत सदा के लिये भाग जाता है और सम्यक्त्व का सूर्य अपनी सहस्र किरणो के द्वारा चित्त रूपी भवन मे सदा के लिये ज्योति फैलाता है, इसमे तनिक भी आश्चर्य नही है। उसके प्रत्येक प्रकाश मे रचयिता ने भक्ति रस की गगा, वैराग्य रस का निर्झर एव ज्ञानामृत की धारा प्रवाहित की है। उक्त धारा के प्रवाह मे भव्य आत्माओ का मिथ्यात्व-मल धुल जाता है और सम्यक्त्व का प्रकाश जगमगाने लगता है। अन्त मे परिशिष्ट मे श्री जिन स्तवन की महिमा पूर्वपुरुषो के वचनानुसार गुजराती भाषा मे विस्तार पूर्वक बताई गई है। पाठको को उस पर भी चिन्तन-मनन करने का परामर्श दिया जाता है।

श्री जिनभक्ति अत्यन्त कल्याणकारी अपूर्व वस्तु है। श्री जिनगुण-स्तुति उसका एक परम साधन है। इस बात की ओर भव्यात्माओ का ध्यान आकर्षित करने के लिये पूर्व महापुरुषो ने अथक परिश्रम किया है, जिसका समुचित आभास कराने के लिये परिशिष्ट का समावेश किया गया है।

परिशिष्ट का लेखाकन करने मे शास्त्रकार महर्षियो के आशय से विरुद्ध जो कुछ भी लिखा गया हो तथा स्तुतियो के अर्थ लिखने मे न्याय, व्याकरण और सिद्धान्त शास्त्र से विपरीत जो कुछ भी लिखा गया हो उस सबके लिये मिच्छामि दुक्कड देते हुए सज्जनो को हस-चचुवत् सार ग्रहण करने के लिये सूचित करता हू।

मुनि भद्रकरविजय

श्री करमचद जैन पौषधशाला, अधेरी
पोष शुक्ला द्वितीया
वीर सवत् 2468, वि सवत् 1998
दिनाक 20-12-1941

—०—

उपोद्घात

जिन भक्ति की महिमा

जिन-भक्ति मुक्ति का प्रधान साधन है। भक्ति की शक्ति अकल्पनीय एवं असीम है। भक्ति की अपूर्व शक्ति के द्वारा समस्त प्रकार की आध्यात्मिक साधना का विकास होता है। भक्ति की शक्ति के द्वारा ही भक्तात्मा को ऐसी युक्ति सूझ जाती है जो उसे मुक्ति का साक्षात्कार कराती है।

अनादि काल से बहिरात्म भाव मे रहा हुआ जीव श्री जिनेश्वर परमात्मा की भक्ति के प्रभाव से अन्तरात्म-भाव प्राप्त करके क्रमश परमात्म भाव की ओर उन्मुख होता है।

जिन-भक्ति अर्थात् "श्री जिनेश्वर परमात्मा ही केवल मेरे और समस्त जीवो के परम हित-चिन्तक, परम हित-कारक, सब चिन्ता-चूरक, सब-कार्य-पूरक, भव-सागर-तारक तथा मोक्ष-पद-दायक है" इस प्रकार की अटल श्रद्धा और विश्वास के साथ प्रभु के प्रति हृदय मे अनन्त सम्मान एव आदर प्रकट करना।

परमात्म-भक्ति ही आत्मा को परमात्मा बनाने वाली है—इस सत्य की वास्तविक श्रद्धा जिस व्यक्ति के हृदय मे स्थिर हो जाती है, ओतप्रोत हो जाती है, उसे परमात्मा को प्राप्त करने के अतिरिक्त अन्य कोई अभिलाषा अथवा कामना होती ही नही है। भक्ति की तन्मयता की आनन्दानुभूति करने वाले भक्त को अन्य वस्तुओ की अपेक्षा प्रभु-भक्ति ही सर्वाधिक प्रिय एव श्रेष्ठ प्रतीत होती है।

प्रत्येक व्यक्ति मे परमात्म-स्वरूप विद्यमान है, छिपा हुआ है। वह प्रकट तब ही होता है, जब आत्मा परमात्मा की शरण मे जाती है, वह उनकी भक्ति मे एकरूप, एकात्म हो जाती है, उनकी आज्ञा को रोम-रोम मे व्याप्त कर लेती है।

शाश्वत सुखमय अनन्त आनन्दमय चिन्मय शुद्ध आत्म-स्वरूप को

प्राप्त करने का अनन्य एव अद्वितीय उपाय परमात्मा की प्रीति, भक्ति और शरणागति ही है ।

परमात्म-भक्ति के अनेक साधन है, उपाय है। अपनी पात्रता, भूमिका के अनुरूप उपाय का सम्मान करने से जीवन मे भक्ति का विकास होता है ।

प्रस्तुत पुस्तक "जिन-भक्ति" मे श्री अरिहन्त परमात्मा के गुणो के स्वरूप, उनका अचिन्त्य प्रभाव, समस्त विश्व पर उनके असख्य उपकार, उनके साथ हमारे सम्बन्ध तथा उनकी स्तुति, वन्दना, अर्चना स्वरूप भक्ति फल आदि पर उत्तम प्रकार से प्रकाश डालने वाले अनेक सस्कृत स्तोत्रो आदि का सग्रह है, तथा साथ ही साथ इसे सुगम बनाने के लिये उनका हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है । इसका एकाग्रता से गान, अर्थ-चिन्तन आदि करने से हमारे हृदय मे श्री अरिहन्त परमात्मा के प्रति प्रेम का प्रवाह तीव्रता से प्रवाहित होने लगता है और हमारी चित्त-वृत्तियाँ निर्मल, शान्त एव स्थिर बनती है ।

सासारिक पदार्थो को हृदय मे स्थान, मान एव भाव देने मे हमारी ही आत्मा का अपमान एव अध पतन होता है । हमारी आत्मा का वास्तविक सम्मान एव उत्थान तो श्री जिनेश्वर परमात्मा की निष्काम आराधना एव उपासना करने से होता है और उस आराधना एव उपासना का प्रारम्भ परमात्मा की प्रीति एव भक्ति से होता है । इस सत्य को स्वीकार करके जो व्यक्ति परम कल्याणकारी परमात्मा की उपासना मे लीन होता है, वह व्यक्ति अवश्यमेव दिव्य आनन्द की अनुभूति करता है ।

अध्यात्म योगी तत्वद्दृष्टा पूज्यपाद पन्यास प्रवर श्री भद्र करविजयजी महाराज ने भक्ति-रसिक पुण्यात्माओ के भक्ति-रस मे वृद्धि हो, उसकी पुष्टि हो, इस शुभ उद्देश्य से भक्ति-वर्धक प्राचीन स्तोत्रो का गुजराती अनुवाद सहित सुन्दर सकलन प्रकाशित किया था, जिसका आज हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन हो रहा है । आशा है हिन्दी भापी जनता इससे अत्यन्त ही लाभान्वित होगी ।

सकलनकर्ता उन महापुरुष के चरणो मे कृतज्ञ भाव से वन्दन हो ।

—विजयकलापूर्णसूरि

अनुक्रमणिका

	स्तुति	रचयिता	पृष्ठांक
1	श्री वर्द्धमान द्वात्रिंशिका	श्री सिद्धसेनदिवाकरसूरि	1–10
2	श्री जिन स्तवन	श्री सिद्धर्षि गणि	11–16
3	श्री ऋषभपचाशिका	श्री धनपाल महाकवि	17–31
4	अयोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका	श्री हेमचन्द्रसूरि	32–40
5	अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका	श्री हेमचन्द्रसूरि	41–50
6	साधारण जिन स्तवन	श्री कुमारपाल भूपाल	51–59
7	परम-ज्योति-पञ्चविंशतिका	श्री यशोविजय उपाध्याय	60–64
8	परमात्म-पञ्चविंशतिका	श्री यशोविजय उपाध्याय	65–69
9	श्री वीतराग स्तोत्र	श्री हेमचन्द्रसूरि	70–107
10	परिशिष्ट 1, 2, 3		108–123

—o—

जिन-भक्ति

आचार्य-पुरन्दर महावादी श्री सिद्धसेन दिवाकर-रचित

* श्री वर्द्धमानद्वात्रिंशिका *

सदा योगसात्म्यात्समुद्भूतसाम्य ,
प्रभोत्पादितप्राणिपुण्यप्रकाश ।
त्रिलोकीशवन्द्यस्त्रिकालज्ञनेता,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्र ॥१॥

अर्थ—क्षायिक भाव से उत्पन्न ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप योग की तारतम्यता के अनुभव से जिनमे सदा समर्पण भाव विद्यमान है, जिन्होने केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन की प्रभा से अपने शासन के अन्तर्गत प्राणियो मे धर्म का उद्योत प्रसारित किया है, जो त्रिलोक के स्वामी देवेन्द्र, भूमीन्द्र एव चमरेन्द्रो के लिये भी वन्दनीय है और जो मति, श्रुत, अवधि तथा मन पर्यव ज्ञान-युक्त पुरुषो के स्वामी है, ऐसे सामान्य केवलियो के लिये इन्द्र तुल्य परमात्मा श्री वर्द्धमान स्वामी ही मेरी गति स्वरूप हो—मुझे शरण हो। (१)

शिवोऽथादिसत्योऽथ बुद्ध पुराण ,
पुमानप्यलक्ष्योऽप्यनेकोऽप्यथैक ।
प्रकृत्याऽऽत्मवृत्त्याप्युपाधिस्वभाव ,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्र ॥२॥

जुगुप्साभयाज्ञाननिद्राविरत्यं–
गभूहास्यशुग्द्वेषमिथ्यात्वरागैः ।
न यो रत्यरत्यन्तरायै· सिषेवे,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥३॥

अर्थ—निन्दा, भय, अज्ञान, नीद, अविरति, काम-लिप्सा, हास्य, शोक, द्वेष, मिथ्यात्व, राग, रति, अरति, तथा दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय एव वीर्यान्तिराय ये पाच अन्तराय इस प्रकार अठारह दोष जिनमे नही हैं वे एक ही परमात्मा जिनेन्द्र मेरी गति रूप हो। (३)

न यो बाह्यसत्त्वेन मैत्रीं प्रपन्न–
स्तमोभिर्न नो वा रजोभि· प्रणुन्नः ।
त्रिलोकीपरित्राणनिस्तन्द्रमुद्रः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥४॥

अर्थ—जो प्रभु बाह्य सत्त्व अर्थात् लौकिक सत्त्व गुण से मित्रता नही रखते, जो अज्ञान रूपी अधकार तथा रजोगुण से भी प्रेरित नही हैं और तीनो लोको की रक्षा करने मे जिनकी मूर्ति आलस रहित है, वे एक ही श्री जिनेन्द्र मेरी गति रूप हो। (४)

हृषिकेश ! विष्णो ! जगन्नाथ ! जिष्णो !,
मुकुन्दाच्युत ! श्रीपते ! विश्वरूप !
अनन्तेति सबोधितो यो निराशैः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥५॥

अर्थ—हे इन्द्रियो के नियता ! हे लोकालोक मे व्याप्त ज्ञान से युक्त ! हे विश्व मे विद्यमान भव्य प्राणियो के नाथ ! हे राग-द्वेष के विजेता ! हे पाप से मुक्त कराने वाले ! हे स्खलन से रहित ! हे केवलज्ञान रूप लक्ष्मी के पति ! हे असख्य प्रदेशो मे अनावृत स्वरूप से युक्त ! हे अनन्त ! आदि सम्बोधनो से निष्काम पुरुषो ने जिन्हे सम्बोधित किया है, ऐसे श्री जिनेन्द्र प्रभु ही मेरी गति हो। (५)

पुराऽनंगकालारिराकाशकेश·,
कपाली महेशो महाव्रत्युमेशः ।
मतो योऽष्टमूर्तिः शिवो भूतनाथः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥६॥

अर्थ—पूर्व मे क्षपक श्रेणी मे आरूढ हुए तब से जो कामदेव रूपी मलिन पात्र के वैरी है, जो लोकाकाश रूपी पुरुषाकार के मस्तक पर विद्यमान सिद्ध शिला पर स्नान करने वाले है, जो ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले है, जो महान् ऐश्वर्य के भोक्ता है, जो महाव्रतधारी है, जो केवलज्ञान केवल-दर्शन रूपी पार्वती के पति है, जो अष्टकर्मों के क्षय से अष्ट गुणो रूपी शक्तियो से युक्त है, जो कल्याण स्वरूप है तथा जो समस्त प्राणियो के नाथ है, वे परमात्मा जिनेन्द्र एक ही मेरी गति हो। (६)

विधि-ब्रह्म-लोकेश- शभु-स्वयभू-,
चतुर्वक्त्रमुख्याभिधानां विधानाम्।
ध्रुवोऽथो य ऊचे जगत्सर्गहेतु.,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्र ।।७।।

अर्थ—विश्व के भव्य प्राणियो को मोक्ष मार्ग प्रदान करने मे जो प्रभु निश्चल हेतु रूप है और जो विधि, ब्रह्मा, लोकेश, शभु, स्वयभू एव चतुर्मुख आदि नामो के कारण रूप है, वे जिनेन्द्र ही एक मेरी गति रूप हो। (७)

न शूल न चाप न चक्रादि हस्ते,
न हास्य न लास्य न गीतादि यस्य।
न नेत्रे न गात्रे न वक्त्रे विकार,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ।।८।।

अर्थ—जिनके हाथो मे त्रिशूल, धनुष एव चक्र आदि शस्त्र नही है, जो हास्य, नृत्य एव गीत आदि से दूर है और जिनके नेत्र, देह अथवा मुंह मे विकार नही है, वे श्री जिनेन्द्र परमात्मा एक ही मेरी गति हो। (८)

न पक्षी न सिंहो वृषो नापि चाप,
न रोषप्रसादादिजन्मा विडम्ब।
न निन्दैश्चरित्रैर्जने यस्य कम्प,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्र. ।।९।।

न गौरी न गंगा न लक्ष्मी यदीयं,
वपुर्वा शिरो वाऽप्युरो वा जगाहे ।
यमिच्छाविमुक्तं शिवश्रीस्तु भेजे,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१०॥

अर्थ—जिनकी देह पर गौरी (पार्वती) बैठी हुई नही है, जिनके सिर पर गगा स्थित नही है और जिनके वक्षस्थल मे लक्ष्मी का निवास नही है, किन्तु इच्छाओ से मुक्त जिन प्रभु का मोक्षलक्ष्मी जाप करती है, वे श्री जिनेन्द्र प्रभु एक ही मेरी गति हो। (१०)

जगत्संभवस्थेमविध्वसरूपै-,
रसत्येन्द्रजालैर्न यो जीवलोकम् ।
महामोहकूपे निचिक्षेप नाथः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥११॥

अर्थ—जिन प्रभु ने विश्व की उत्पत्ति, स्थिति एव नाश स्वरूप मिथ्या इन्द्रजालो के द्वारा इस लोक को महा मोह रूपी कुँए मे नही डाला, वे एक ही परमात्मा श्री जिनेन्द्र भगवान मेरी गति हो। (११)

समुत्पत्तिविध्वसनित्यस्वरूपा,
यदुत्था त्रिपद्येव लोके विधित्वम् ।
हरत्वं हरित्व प्रपेदे स्वभावैः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१२॥

अर्थ—जिन तीर्थंकर प्रभु से प्रकट उत्पत्ति, विनाश एव नित्यता (ध्रुवत्व) रूप त्रिपदी ही इस लोक मे स्वभाव से ब्रह्मत्व, शिवत्व एव विष्णुत्व को प्राप्त है, वे श्री जिनेन्द्र प्रभु मेरी गति रूप हो। (१२)

त्रिकालत्रिलोकत्रिशक्तित्रिसन्ध्य-,
त्रिवर्ग-त्रिदेव-त्रिरत्नादिभावैः ।
यदुक्ता त्रिपद्येव विश्वानि वव्रे,
स एक. परात्मा गतिर्मे जिनेद्रः ॥१३॥

अर्थ—जिन भगवान के द्वारा प्रतिपादित त्रिपदी त्रिकाल, त्रिलोक, त्रिशक्ति, त्रिसध्या, त्रिवर्ग तथा त्रिरत्न आदि भावो के द्वारा समस्त विश्व को वरण की हुई है, वे श्री जिनेन्द्र प्रभु ही मेरी गति हो। (१३)

यदाज्ञा त्रिपद्येव मान्या ततोऽसौ,
तदस्त्येव नो वस्तु यन्नाधितिष्ठौ ।
अतो ब्रूमहे वस्तु यत्तद्यदीय,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्र ॥१४॥

अर्थ—जिन भगवान की आज्ञा त्रिपदी ही है, जिसमे उक्त त्रिपदी मानने योग्य है। जो वस्तु त्रिपदी मे व्याप्त है वह वस्तु है, और जो वस्तु त्रिपदी मे अधिष्ठित नही है वह वस्तु भी नही है। अत हम कहते है कि जो वस्तु है वह त्रिपदीमय है, ऐसे श्री जिनेन्द्र भगवान एक ही मेरी गति हो। (१४)

न शब्दो न रूप रसो नापि गन्धो,
नवा स्पर्शलेशो न वर्णो न लिगम् ।
न पूर्वापरत्व न यस्यास्ति सज्ञा,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्र ॥१५॥

अर्थ—जिन श्री जिनेन्द्र भगवान के शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये पाच विषय नही है, जिन प्रभु का श्वेत आदि वर्ण अथवा आकार नही है, जिनका स्त्रीलिंग, पुलिंग अथवा नपुसकलिंग कोई लिंग नही है, जिन्हे यह प्रथम अथवा यह द्वितीय ऐसी पूर्वापरता नही है तथा जिनके सज्ञा नही है, वे श्री जिनेन्द्र भगवान एक ही मेरी गति हो। (१५)

छिदा नो भिदा नो न क्लेदो न खेदो,
न शोषो न दाहो न तापादिरापत् ।
न सौख्य न दु.ख न यस्यास्ति वाञ्छा,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्र ॥१६॥

अर्थ—जिन भगवान का शस्त्र आदि से छेद नही है, करवत आदि से भेद नही है, जल आदि से क्लेद नही है, खेद नही है, शोष नही है, दाह नही है, सन्ताप आदि आपत्ति नही है, सुख नही है, दुःख नही है, इच्छा नही है, वे एक ही श्री जिनेन्द्र भगवान मेरी गति हो। (१६)

न योगा न रोगा न चोद्वेगवेगा,
स्थितिर्नो गतिर्नो न मृत्युर्न जन्म ।
न पुण्य न पाप न यस्यास्ति बन्ध,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्र ॥१७॥

अर्थ—जिन प्रभु को मन, वचन और काया के योग नही हैं, ज्वर आदि रोग नही है और जिनके चित्त मे उद्वेग का वेग नही है तथा जिन भगवान के आयु की सीमा नही है, पर-भव मे जिनका गमन नही है, जिनकी मृत्यु नही है, जिनका चौरासी लाख जीवयोनि मे जन्म/अवतार नही है, जिनको पुण्य, पाप अथवा बध नही है, वे एक ही श्री जिनेन्द्र मेरी गति हो। (१७)

तपः संयमः सूनृतं ब्रह्म शौचं,
मृदुत्वार्जवाकिंचनत्वानि मुक्तिः ।
क्षमैवं यदुक्तो जयत्येव धर्मः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१८॥

अर्थ—जिनके द्वारा कथित तप, सयम, सत्य वचन, ब्रह्मचर्य, अचौर्य, निरभिमान, आर्जव (सरलता), अपरिग्रह, मुक्ति (निर्लोभ) और क्षमा—यह दस प्रकार का धर्म ज्वलन्त है, वे श्री जिनेन्द्र प्रभु एक ही मेरी गति हो। (१८)

अहो विष्टपाधारभूता धरित्री,
निरालम्बनाधारमुक्ता यदास्ते ।
अचिन्त्यैव यद्धर्मशक्तिः परा सा,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१९॥

अर्थ—अहो ! जिन भगवान् के धर्म की शक्ति अचिन्त्य एव उत्कृष्ट है, जिससे भुवन की आधार रूप यह पृथ्वी आलम्बन और बिना आधार के स्थित है, वे श्री जिनेन्द्र परमात्मा ही मेरी गति हो। (१९)

न चाम्भोधिराप्लावयेद् भूतधात्री,
समाश्वासयत्येव कालेम्बुवाहः ।
यदुद्भूत-सद्धर्मसाम्राज्यवश्यः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२०॥

अर्थ—जिन भगवान् से प्रकट सद्धर्म के साम्राज्य के वशीभूत बना समुद्र इस पृथ्वी को डुबोता नही है और उचित समय पर मेघ (बादल) आते रहते हैं, वे ही श्री जिनेन्द्र भगवान् मेरी गति हो। (२०)

न तिर्यग् ज्वलत्येव यत् ज्वालजिह्वो,
यदूर्ध्वं न वाति प्रचण्डो नभस्वान् ।
न जागर्ति यद्धर्मराजप्रताप',
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्र ।।२१।।

अर्थ—जिन भगवान् के धर्मराज का प्रताप ऐसा जागृत है कि जिससे अग्नि तिरछी प्रज्वलित नही होती और प्रचड हवा ऊर्ध्व गति से नही चलती वे एक ही श्री जिनेन्द्र भगवान् मेरी गति हो। (२१)

इमौ पुष्पदन्तौ जगत्यत्र विश्वो-
पकाराय दिष्ट्योदयेते वहन्तौ ।
उरीकृत्य यत्तुर्यलोकोत्तमाज्ञा,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ।।२२।।

अर्थ—जिन लोकोत्तम प्रभु की आज्ञा को अगीकार करके चलने वाले सूर्य एव चन्द्रमा इस विश्व के उपकारार्थ सद्भाग्य से उदय होते हैं, वे एक ही परमात्मा मेरी गति हो। (२२)

अवत्येव पातालजम्बालपातात्,
विधायापि सर्वज्ञलक्ष्मीनिवासान् ।
यदाज्ञाविधित्साश्रितानगभाज ,
स एक' परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्र. ।।२३।।

अर्थ—पालन की जाने की इच्छुक जिन भगवान् की आज्ञा भव्य प्राणियो को सर्वज्ञ लक्ष्मी के निवास रूप देहहीन वना कर अथवा जिन भगवान् की आज्ञा उसे पालन करने के इच्छुक प्राणियो को सर्वज्ञ लक्ष्मी का निवास रूप वना कर नरक-निगोद आदि के कीचड मे गिरने से वचाती है, वे एक ही जिनेन्द्र भगवान् मेरी गति हो। (२३)

सुपर्वद्रुचिन्तामणिकामधेनु-
प्रभावा नृणा नैव दूरे भवन्ति ।
चतुर्थे यदुत्थे शिवे भक्तिभाजा,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेद्र. ।।२४।।

अर्थ—जिन भगवान् से प्रकट चौथे लोकोत्तर (मुक्ति रूपी भाव) कल्याण के सम्वन्ध मे भक्ति-युक्त भव्य प्राणियो के लिये कल्पवृक्ष, चिन्तामणि और कामधेनु प्रभाव भी दूर नही है, वे एक ही जिनेन्द्र भगवान् मेरी गति हो। (२४)

कलिव्यालवह्निग्रहव्याधिचौर-
व्यथावारणव्याघ्रवीथ्यादिविघ्नाः ।
यदाज्ञाजुषां युग्मिनां जातु न स्युः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२५॥

अर्थ—जिन भगवान् के आज्ञा-पालक स्त्री-पुरुषो रूपी युग्मो को क्लेश, सर्प-भय, अग्नि-भय, ग्रह-पीडा, रोग, चोर का उपद्रव, गज-भय और व्याघ्र की श्रेणी अथवा व्याघ्र एव मार्ग का भय आदि विघ्न कदापि नही होते, वे श्री जिनेन्द्र प्रभु एक ही मेरी गति हो। (२५)

अबन्धस्तथैकः स्थितो वा क्षयी वा-,
ऽप्यसद्वा मतो यैर्जडै सर्वथाऽऽत्मा ।
न तेषां विमूढात्मनां गोचरो य',
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२६॥

अर्थ—जो जड मनुष्य आत्मा को सर्वथा कर्म-बध रहित, एक, स्थिर, विनाशी अथवा असत् मानते है, उन मूढ मनुष्यो को जो भगवान् गोचर नही होते, वे एक ही श्री जिनेन्द्र भगवान् मेरी गति हो। (२६)

न वा दुःखगर्भे न वा मोहगर्भे,
स्थिता ज्ञानगर्भे तु वैराग्यतत्त्वे ।
यदाज्ञानिलीना ययुर्जन्मपारं,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्र' ॥२७॥

अर्थ—जिन भगवान् की आज्ञा दु खगर्भित वैराग्य अथवा मोह-गर्भित वैराग्य मे नही रही है, किन्तु ज्ञानगर्भित वैराग्य तत्त्व मे रही है तथा जिनकी आज्ञा मे लीन हुए मनुष्यो ने जन्म-मरण रूप ससार-सागर का पार पा लिया है, वे एक ही श्री जिनेन्द्र भगवान् मेरी गति हो। (२७)

विहायास्रवं सवर सश्रयेव,
यदाज्ञा पराऽभाजि यैर्निर्विशेषैः ।
स्वकस्तैरकार्येव मोक्षो भवो वा,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२८॥

अर्थ—जिन निर्विशेष (सामान्य) पुरुषो ने "हे जीव ! तू आस्रव को छोड कर सवर का आश्रय ले" इस प्रकार की जिन भगवान् की उत्कृष्ट आज्ञा का पालन किया है उन्होने अपना भव/जन्म मोक्ष स्वरूप कर दिया

है, जीवन-मुक्त दशा प्राप्त की है, ऐसे श्री जिनेन्द्र भगवान् एक ही मेरी गति हो। (२८)

शुभध्याननीरैरुरीकृत्य शौचं,
सदाचारदिव्यांशुकैर्भूषिताङ्गाः।
बुधा केचिदर्हन्ति य देहगेहे,
स एक. परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्र ॥२९॥

अर्थ—कोई पण्डित पुरुष शुभ ध्यान रूप जल से पवित्र हो और सदाचार रूपी दिव्य वस्त्रो से अगो को अलकृत करके अपनी देह रूपी मन्दिर मे जिन भगवान् के स्वरूप की पूजा करते है, वे एक ही जिनेन्द्र भगवान् मेरी गति हो। (२९)

दयासूनृतास्तेयनि.सगमुद्रा-,
तपोज्ञानशीलैर्गुरूपास्तिमुख्यैः।
शुभैरष्टभिर्योऽर्च्यते धाम्नि धन्यैः,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्र. ॥३०॥

अर्थ—जो धन्य पुरुष दया, सत्य, अचौर्य, नि सग मुद्रा, तप, ज्ञान, शील एव गुरु की उपासना इन प्रमुख आठ पुष्पो से जिन भगवान् की ज्ञान-ज्योति मे पूजा करते हैं, वे श्री जिनेन्द्र भगवान् एक ही मेरी गति हो। (३०)

महार्चिर्धनेशो महाज्ञा महेन्द्रो,
महाशान्तिभर्त्ता महासिद्धसेन·।
महाज्ञानवान् पावनीमूर्त्तिरर्हन्,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्र ॥३१॥

अर्थ—हे अर्हन्! आप परम ज्योतिर्मय हैं, कुबेर के समान आत्म-ऋद्धि के स्वामी है, महान् आज्ञायुक्त हैं, महेन्द्र रूप परम ऐश्वर्य के भोक्ता हैं, महा शान्त रस के नायक है, महान् सिद्धो के पर्यायो की सन्तति युक्त हैं, केवलज्ञानी हैं और सबको-पावन करने वाली मूर्ति से युक्त हैं, वे आप श्री जिनेन्द्र प्रभु ही मेरी गति रूप हो। (३१)

महाब्रह्मयोनिर्महासत्त्वमूर्त्ति-,
र्महाहसराजो महादेवदेव.।
महामोहजेता महावीरनेता,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥३२॥

अर्थ—जो भगवान परब्रह्म के उत्पत्ति-स्थान है, जो महान् धैर्य की मूर्ति है, जो महान् चैतन्य के राजा है, जो चार निकायो के कर्मोपाधि से युक्त महान् देवो के भी देव है, जो महा मोहविजेता है और जो महावीर अर्थात् कर्मक्षय करने मे महान् योद्धा के भी स्वामी है, वे श्री जिनेन्द्र प्रभु ही एक मेरी गति हो। (३२)

(उपसहार काव्यम्)

शार्दूलविक्रीडितम्

इत्थं ये परमात्मरूपमनिशं श्रीवर्द्धमानं जिनम्,
वन्दन्ते परमार्हतास्त्रिभुवने शान्तं परं दैवतम् ।
तेषां सप्तभियः क्व सन्ति दलित दुःखं चतुर्धाऽपि तै-
र्मुक्तैर्यत् सुगुणानुपेत्य वृणुते ताश्चक्रिशक्रश्रियः ।।३३।।

इस प्रकार जो परम श्रावक सदा तीन भुवन मे शान्त परमात्म-स्वरूप एव परम दैवत श्री वर्धमान प्रभु की वन्दना करते हैं, उन श्रावको को सात प्रकार के भय तो भला कैसे हो सकते हैं ? परन्तु वे मुक्त होकर चार प्रकार के दु खो का भी दलन कर देते हैं और अनन्त चतुष्ट्य आदि उत्तम गुणो को प्राप्त करके चक्रवर्ती की एव मोक्ष पर्यन्त की लक्ष्मियो का वरण करते है। (३३)

श्री उपमितिभवप्रपञ्चामहाकथा-रचयिता

श्री सिद्धर्षिगरिणविरचितम्

* श्री जिनस्तवनम् *

अपारघोरससार - निमग्नजनतारक !
किमेष घोरससारे, नाथ ! तेविस्मृतो जनः ? ॥१॥

अपार महा भयकर ससार-सागर मे डूबे हुए प्राणियो के तारणहार हे नाथ ! इस भयानक ससार-सागर मे क्या आप मुझे भूल गये ? (१)

सद्भावप्रतिपन्नस्य, तारणे लोकबन्धव !
त्वयाऽस्य भुवनानन्द !, येनाद्यापि विलम्ब्यते ? ॥२॥

हे लोकवधु ! तीनो भुवन को आनन्द देने वाले ! इस कारण मैंने सच्चे भाव से आपको स्वीकार किया है, फिर भी आप ससार से मेरा उद्धार करने मे अब भी विलम्ब कर रहे है ? (२)

आपन्नशरणे दीने, करुणाऽमृतसागर !
न युक्तमीदृश कर्तुं, जने नाथ ! भवादृशाम् ॥३॥

अहो करुणामृत सागर ! शरणागत दीन जन के साथ आपके जैसे को इस प्रकार व्यवहार करना किसी भी तरह उचित नही है । (३)

भीमेऽह भवकान्तारे, मृगशावकसन्निभ. ।
विमुक्तो भवता नाथ !, किमेकाकी दयालुना ? ॥४॥

हे नाथ ! आपके समान दयालु स्वामी ने, इस भयकर भव-वन मे हिरन के वच्चे की तरह मुझे अकेला क्यो छोड दिया है ? (४)

इतश्चेतश्च निक्षिप्त - चक्षुस्तरलतारकः ।
निरालम्बो भयेनैव, विनश्येऽह त्वया विना ॥५॥

इधर-उधर दृष्टि डालता हुआ चचल पुतली वाला निराधार एव भयभीत बना हुआ मैं आपके बिना अवश्य नष्ट हो जाऊँगा। (५)

अनन्तवीर्यसम्भार !, जगदालम्बदायक !
विधेहि निर्भयं नाथ ! मामुत्तार्य भवाटवीम् ॥६॥

हे अनन्त वीर्य के स्वामी ! विश्व के आलम्बन ! नाथ ! आप मुझे भव-वन से बाहर निकाल कर भय-मुक्त करे। (६)

न भास्करादृते नाथ ! कमलाकरबोधनम् ।
यथा तथा जगन्नेत्र !, त्वदृते नास्ति निर्वृतिः ॥७॥

हे नाथ ! जिस प्रकार कमल - वन को विकसित करने वाला सूर्य के अतिरिक्त अन्य कोई नही है, उसी प्रकार हे विश्व-चक्षु ! आपके अतिरिक्त किसी से भी मेरी मुक्ति होने वाली नही है। (७)

किमेष कर्मणां दोषः ?, किं ममैव दुरात्मनः ?
किं वाऽस्य हतकालस्य ?, किं वा मे नास्ति भव्यता ? ॥८॥

हे त्रिलोक-भूषण प्रभु ! क्या यह मेरे कर्मो का दोष है ? अथवा मुझ दुरात्मा का स्वय का दोष है ? अथवा क्या इस अधम काल का दोष है ? अथवा क्या मेरे मे भव्यत्व-भाव नही है ? (८)

किं वा सद्भक्तिनिर्ग्राह्य !, मद्भक्तिस्त्वयि तादृशी ।
निश्चलाऽद्यापि सम्पन्ना, न मे भुवनभूषण ! ॥९॥

अथवा हे सद्भक्ति से प्राप्त होने वाले भुवन-भूषण ! क्या अभी तक आपके प्रति मेरी ऐसी निश्चल भक्ति ही नही हुई है ? (९)

लीलादलितनिःशेषकर्मजाल ! कृपापर !
मुक्तिमर्थयते नाथ !, येनाद्यापि न दीयते ? ॥१०॥

लीला मात्र मे समस्त कर्म-जाल को काट डालने वाले हे कृपालु भगवान् ! क्या उस कारण से मुक्ति माँगने पर भी आप अभी तक मुझे मुक्ति प्रदान नही करते ? (१०)

स्फुट च जगदालम्ब !, नाथेद ते निवेद्यते ।
नास्तीह शरणं लोके, भगवन्तं विमुच्य मे ॥११॥

विश्व के आलम्बन हे प्रभु ! मैं स्पष्ट कह रहा हूँ कि इस लोक मे आपके अतिरिक्त अन्य कोई भी मुझे शरणदाता नही है। (११)

त्व माता त्व पिता वन्धु-, स्त्व स्वामी त्व च मे गुरु ।
त्वमेव जगदानन्द !, जीवित जीवितेश्वर ! ॥१२॥

हे जगदानन्द ! हे जीवितेश्वर ! आप मेरी माता हैं, आप मेरे पिता है, आप मेरे वधु है, आप मेरे स्वामी हैं, आप मेरे गुरु हैं और आप ही मेरे जीवन हैं। (१२)

त्वयाऽवधीरितो नाथ !, मीनवज्जलवर्जिते ।
निराशो दैन्यमालम्ब्य, म्रियेऽह जगतीतले ॥१३॥

हे नाथ ! आपसे तिरस्कृत वना मैं हताश होकर जल-विहीन मछली की तरह निराधार होकर पृथ्वी पर मृत्यु का ग्रास हो जाऊँगा। (१३)

स्वसवेदनसिद्ध मे, निश्चले त्वयि मानसम् ।
साक्षाद्भूतान्यभावस्य, यद्वा किं ते निवेद्यताम् ? ॥१४॥

हे भगवान् ! आपको निश्चल पाकर मेरा मन आप मे लीन हो गया है, इसका मुझे व्यक्तिगत अनुभव है अथवा अन्य प्राणियो के भावो के साक्षात् ज्ञाता आपको क्या कुछ भी कहने की आवश्यकता है ? (१४)

मच्चित्त पद्मन्नाथ !, दृष्टे भुवनभास्करे ।
त्वयीह विकसत्येव, विदलत्कर्मकोशकम् ॥१५॥

हे नाथ ! तीन भुवन मे सूर्य के समान आपको देख कर कमल की तरह मेरा चित्त यहा कर्म-कोश को भेद कर अवश्य विकसित होता है।(१५)

अनन्तजन्तुसन्तान - व्यापाराक्षणिकस्य ते ।
ममोपरि जगन्नाथ !, न जाने कीदृशी दया ! ॥१६॥

हे जगन्नाथ ! अनन्त प्राणियो के समूह के व्यापार के सम्वन्ध मे आप व्यापृत प्रभु की मुझ पर कैसी दया है, यह मैं नही जानता। (१६)

समुन्नते जगन्नाथ !, त्वयि सद्धर्मनीरदे ।
नृत्यत्येष मयूरा भो, मद्दोर्दण्डशिखण्डिक ॥१७॥

हे जगन्नाथ ! सद्धर्म रूपी वादलो के घिर आने से मेरे भुज-दण्ड रूपी मयूर नृत्य करने लगते है। (१७)

तदस्य किमिय भक्ति ? किमुन्मादोऽयमीदृश ?
दीयता वचने नाथ !, कृपया मे निवेद्यताम् ॥१८॥

हे नाथ ! यह क्या उनकी भक्ति है अथवा पागलपन है ? आप अपने वचनो के द्वारा मुझे बतायें, कृपा करके मुझे कहे। (१८)

मञ्जरीराजिते नाथ !, सच्चूते कलकोकिल ।
यथा दृष्टे भवत्येव, लसत्कलकलाकुलः ॥१९॥

हे नाथ ! मजरी से सुशोभित आम के वृक्ष को देखकर जिस प्रकार मनोहर कोयल कल-कल की ध्वनि करने लगती है, (१९)

तथैष सरसानन्द-बिन्दुसन्दोहदायके ।
त्वयि दृष्टे भवत्येव, मूर्खोऽपि मुखरो जनः ॥२०॥
युग्मम्

उसी प्रकार से सरस आनन्द-बिन्दु के समूह को प्रदान करने वाले आपको देख कर यह मूर्ख व्यक्ति भी वाचाल हो जाता है। (२०)

तदेनं माऽवमन्येथा, नाथासंबद्धभाषिणम् ।
मत्वा जन जगज्ज्येष्ठ !, सन्तो हि नतवत्सलाः ॥२१॥

इस कारण जगत् के हे श्रेष्ठ पुरुष ! हे नाथ ! मुझे असम्बद्ध भाषण करने वाला मान कर मेरा तिरस्कार न करे, क्योकि सन्त पुरुष नमन करने वाले प्राणियो के प्रति वत्सलता भाव वाले होते हैं। (२१)

किं बालोऽलीकवाचाल, आलजाल लपन्नपि ।
न जायते जगन्नाथ !, पितुरानन्दवर्धकः ? ॥२२॥

हे जगन्नाथ ! बालक अस्त-व्यस्त, सच्चा-मिथ्या अथवा पागल सा बोलता है तो भी क्या वह पिता के आनन्द मे वृद्धि करने वाला नही होता ? (२२)

तथाऽश्लोलाक्षरोल्लापजल्पाकोऽय जनस्तव ।
किं विवर्धयते नाथ !, तोष किं नेति कथ्यताम् ? ॥२३॥

हे नाथ ! मैं अश्लील अक्षरो के उल्लाप स्वरूप जैसी तैसी भाषा मे बोलता हूँ, जिससे आपके आनन्द मे वृद्धि होती है अथवा नही, यह आप मुझे बतायें। (२३)

अनाद्यभ्यासयोगेन, विषयाशुचिकर्दमे ।
गर्ते सूकरसंकाश, याति मे चटुल मनः ॥२४॥

हे नाथ! अनादिकालीन अभ्यास से मेरा चचल मन विषय रूप अपवित्र कीचड मे शूकर की तरह चला जाता है। (२४)

न चाहं नाथ! शक्नोमि, तन्निवारयितु चलम्।
अतः प्रसीद तद्देवदेव! वारय वारय ॥२५॥

हे नाथ! मेरे इस चचल मन को रोकने मे मैं समर्थ नही हूँ। अत हे देवाधिदेव! मुझ पर कृपा करके उसे विषय रूपी अशुचि मे जाने से रोको, रोको। (२५)

किं ममापि विकल्पोऽस्ति, नाथ! तावकशासने।
येनैव लपतोऽधीश! नोत्तर मम दीयते? ॥२६॥

हे नाथ! क्या मुझे आपकी आज्ञा के सम्बन्ध मे कोई सन्देह है? जिसके परिणाम से मैं इतना कहता हूँ तो भी आप मुझे उत्तर नही दे रहे है? (२६)

आरूढमीयतीं कोटीं, तव किङ्करता गतम्।
मामप्येतेऽनुधावन्ति, किमद्यापि परीषहाः? ॥२७॥

हे नाथ! मैं आपका सेवक-पद पा गया—इतने स्तर तक मैं आगे वढा, तो भी अभी तक ये परीषह मेरा पीछा कर रहे हैं, उसका क्या कारण है? (२७)

किं चामी प्रणताशेष— जनवीर्यविधायक!।
उपसर्गा ममाद्यापि, पृष्ठ मुञ्चन्ति नो खला.? ॥२८॥

समस्त जनो के वीर्य को उत्पन्न करने वाले हे नाथ! ये दुष्ट उपसर्ग अभी तक मेरा पीछा क्यो नही छोडते? (२८)

पश्यन्नपि जगत्सर्वं, नाथ! पुरत संस्थितम्।
कषायारातिवर्गेण, किं न पश्यसि पीडितम्? ॥२९॥

हे नाथ! अखिल विश्व को आप देख रहे हैं, फिर भी आपके सम्मुख खडे हुए तथा कषाय रूपी शत्रुओ से पीडित इस सेवक को आप क्यो नही देखते? (२९)

कषायाभिद्रुत वीक्ष्य, मा हि कारुणिकस्य ते।
विमोचने समर्थस्य, नोपेक्षा नाथ! युज्यते ॥३०॥

हे नाथ! मुझे कषायो से पीडित देख कर भी और उनसे छुडाने मे समर्थ होते हुए भी आप जैसे दयालु को मेरी उपेक्षा करना उचित नही है। (३०)

विलोकिते महाभाग!, त्वयि ससारपारगे।
आसितु क्षणमप्येकं, ससारे नास्ति मे रतिः॥३१॥

हे महाभाग! ससार से मुक्त हुए आपको देखने के पश्चात् इस ससार मे एक क्षण भर के लिए भी रहने की मेरी रुचि नही है। (३१)

किं तु किं करवाणीह? नाथ! मामेष दारुण।
आन्तरो रिपुसघातः, प्रतिबध्नाति सत्वरम्॥३२॥

किन्तु हे नाथ! मैं क्या करू? इन अन्तरग शत्रुओ का समूह मुझे कठोरता से सत्वर बाध लेता है। (३२)

विधाय मयि कारुण्यं, तदेन विनिवारय।
उद्दामलीलया नाथ! येनागच्छामि तेऽन्तिके॥३३॥

हे नाथ! मुझ पर कृपा करके उस शत्रु-समूह को प्रचड लीला से दूर करो, जिससे मैं आपके समीप पहुँच सकू। (३३)

तवायत्तो भवो धीर!, भवोत्तारोऽपि ते वशः।
एव व्यवस्थिते किं वा, स्थीयते परमेश्वरः? ॥३४॥

हे धीर! यह ससार आपके आधार पर है और इस ससार से उद्धार होना भी आपके अधीन है। तो फिर हे परमेश्वर! आप शान्त क्यो बैठे है? (३४)

तद्दीयतां भवोत्तारो, मा विलम्बो विधीयताम्।
नाथ! निर्गतिकोल्लाप, न शृण्वन्ति भवादृशाः॥३५॥

अत अब मुझे ससार से पार करो, विलम्ब मत करो। हे नाथ! जिसका अन्य कोई आधार नही है, ऐसे मेरे जैसे व्यक्ति के उद्गार क्या आप जैसे नही सुनेगे। (३५)

———

सिद्धसारस्वतमहाकविश्रीधनपालविरचिता

श्रीऋषभपंचाशिका

जयजन्तुकप्पपायव ! चदायव ! रागपकयवरणस्स ।
सयलमुणिगामगामणि ! तिलोग्रचूडामणि ! नमो ते ।।१।।
(जगज्जन्तुकल्पपादप ! चन्द्रातप ! रागपङ्कजवनस्य ।
सकलमुनिग्राम-ग्रामणी-स्त्रिलोकचूडामणे ! नमस्ते ।।)

विश्व के जीवो को वाछित फल प्रदान करने वाले होने के कारण हे कल्पवृक्ष के समान योगीश्वर !, राग रूपी सूर्य से विकसित होने वाले (कमलो के वन को) उन्मीलित करने वाले होने से (चन्द्रप्रभा) तुल्य परमेश्वर !, हे, सकल कला युक्त मुनिगण के नायक !, हे स्वर्ग, मर्त्य एव पाताल (अथवा अधोलोक, मध्यलोक एव ऊर्ध्वलोक) रूपी त्रिभुवन की (सिद्ध शिला रूपी) चूडा के लिये (उसके शाश्वत मण्डन रूप होने के कारण) मणि तुल्य ऋषभदेव स्वामिन् ! आपको मेरा त्रिकरण शुद्धि पूर्वक नमस्कार हो ! (१)

जयरोसजलणजलहर !, कुलहर ! वरणाणदसणसिरीणं ।
मोहतिमिरोहदिणयर !, नयर ! गुणगणाण पउराण ।।२।।
(जय रोषज्वलनजलधर ! कुलगृह ! वरज्ञानदर्शनश्रियो. ।
मोहतिमिरौघदिनकर ! नगर ! गुणगणाना पौराणाम् ।।)

हे क्रोध रूपी अग्नि को शान्त करने मे मेघ के समान !, हे उत्तम (अप्रतिपाति) ज्ञान एव दर्शन रूपी लक्ष्मियो के आनन्दार्थ कुलगृह तुल्य !, हे अज्ञान रूपी अधकार के समूह का अन्त करने मे सूर्य के समान !, हे (तप, प्रशम आदि) गुणो के समुदाय स्वरूप नागरिको के नगर तुल्य ! आपकी जय हो, आप सर्वोत्कृष्ट हो । (२)

दिट्ठो कहवि विहडिए, गंठिम्मि कवाडसंपुडघणंमि ।
मोहधयारचारयगएण जिण ! दिणयरुव्व तुम ।।३।।
(दृष्टः कथमपि विघटिते ग्रन्थौ कपाटसम्पुटघने ।
मोहान्धकारचारकगतेन जिन ! दिनकर इव त्वम् ।।)

अनेक भवो से एकत्रित होने से द्वार के युगल जैसी गाढ राग-द्वेष के परिणाम स्वरूप गाठ का जब अत्यधिक परिश्रम से नाश हुआ, तब हे जिनेश्वर ! २८ प्रकार के मोह रूपी अधकार से व्याप्त कारागृह मे मुझे सूर्य के समान आपका दर्शन हुआ । (३)

भविअकमलाण जिणरवि ! दंसणपहरिसूससताणं ।
दढबद्धा इव विहडति, मोहतम-भमरविंदाइ ।।४।।

(भव्यकमलेभ्यो जिनरवे ! त्वद्दर्शनप्रहर्षोच्छ्वसद्भ्यः ।
दृढबद्धानीव विघटन्ते मोहतमोभ्रमरवृन्दानि ।।)

मिथ्यात्वरूपी रात्रि का नाश करने वाले एव सुमार्ग की ज्योति फैलाने वाले हे जिन-सूर्य ! आपके दर्शन रूपी प्रकृष्ट आनन्द से विकसित भव्य कमलो से दृढता पूर्वक बँ े हुए मोह अधकार रूपी भौरो के समूह मुक्त हो जाते है । (४)

लट्ठत्तणाहिमाणो, सव्वो सव्वट्ठसुरविमाणस्स ।
पइं नाह ! नाहिकुलगर-, घरावयारुम्मुहे नट्ठो ।।५।।
(शोभनत्वाभिमानः सर्व. सर्वार्थसुरविमानस्य ।
त्वयि नाथ ! नाभिकुलकर,-गृहावतारोन्मुखे नष्टः ।।)

हे नाथ ! जब आपने नाभि कुलकर के घर मे अवतार लिया, तब सर्वार्थसिद्ध नामक देव विमान का सौन्दर्य सम्बन्धी समस्त गर्व चूर-चूर हो गया । (५)

पइ चिंतादुल्लहमुक्खसुक्खफलए अउव्वकप्पदुमे ।
अवइन्ने कप्पतरू जयगुरु ! हित्था इव पओत्था ।।६।।

(त्वयि चिन्तादुर्लभमोक्षसुखफलदेऽपूर्वकल्पद्रुमे ।
अवतीर्णे कल्पतरवो जगद्गुरो ! ह्रीस्था इव प्रोपिता ।।)

सकल्प से दुर्लभ मोक्ष-सुख रूपी फल प्रदान करने वाले आप अपूर्व कल्पवृक्ष अवतीर्ण हुए, जिससे हे जगद्‌गुरु ! कल्पवृक्ष मानो लज्जित हो गये हो उस प्रकार अदृश्य हो गये। (६)

अरएण तइएण, इमाइ ओसप्पिणीइ तुह जम्मे।
फुरिअं कणगमएण, व कालचक्कपासम्मि ॥७॥
(अरकेण तृतीयेनास्यामवसर्प्पिण्या तव जन्मनि।
स्फुरित कनकमयेनेव कालचक्रैकपार्श्वे ॥)

कालचक्र के एक ओर इस अवसर्पिणी काल मे आपके जन्म से तीसरा आरा स्वर्णमय जैसे सुशोभित रहा। (७)

जम्मि तुम अहिसित्तो, जत्थ य सिवसुक्खसपय पत्तो।
ते अट्ठावयसेला, सीसामेला गिरिकुलस्स ॥८॥
(यत्र त्वमभिषिक्तो यत्र च शिवसुखसपद प्राप्तः।
तवाष्टापदशैलौ, शीर्षापीडौ गिरिकुलस्य ॥)

जिस स्वर्ण गिरि पर आपका जन्माभिषेक हुआ वह एक अष्टापद (मेरु) पर्वत तथा जहाँ आपने शिव-सुख की सम्पत्ति प्राप्त की अर्थात् जहाँ आपका निर्वाण हुआ वह विनीता नगरी के समीपस्थ आठ सीढियो वाला दूसरा अष्टापद पर्वत—ये दोनो पर्वत समस्त पर्वतो के समूह के मस्तक पर मुकुट स्वरूप हो गये। (८)

धन्ना सविम्हय जेहिं, झत्ति कयरज्जमज्जणो हरिणा।
चिरधरिअनलिणपत्ताऽभिसेअसलिलेहिं दिट्ठो सि ॥९॥
(धन्या सविस्मय यैर्झटिति कृतराज्यमज्जनो हरिणा।
चिरधृतनलिनपत्राभिषेकसलिलैर्दृष्टोऽसि ॥)

हे जगन्नाथ ! इन्द्र के द्वारा शीघ्र राज्याभिषेक किये गये आपको दीर्घ काल तक कमल के पत्तो के द्वारा अभिषेक (जलधारण) किये हुए जिन युगलिको ने देखा वे धन्य है। (९)

दाविअविज्जासिप्पो, वज्जरिआसेसलोअववहारो।
जाओ सि जाण सामिअ, पयाओ ताओ कयत्थाओ ॥१०॥
(दर्शितविद्याशिल्पो व्याकृतशेषलोकव्यवहार।
जातोऽसि यासा स्वामी प्रजास्ता कृतार्था ॥)

जिन्होने (शब्द, लेखन, गणित, गीत आदि) विद्याएँ एव (कुम्भकार आदि) शिल्प बताये है, तथा जिन्होने (कृषि, पशु-पालन, वाणिज्य, विवाह आदि) समस्त प्रकार का लोक-व्यवहार भी समुचित प्रकार से समझाया है, ऐसे आप जिन प्रजा-जनो के स्वामी हुए हैं, वे प्रजाजन भी कृतार्थ है। (१०)

बंधुविहत्तवसुमई, वच्छरमच्छिन्नदिन्नधणनिवहो ।
जह तं तह को अन्नो, निअमधुरं धीर ! पडिवन्नो ॥११॥
(बन्धुविभक्तवसुमतिः वत्सरमच्छिन्नदत्तधननिवह ।
यथा त्वं तथा कोऽन्यो नियमधुरां धीर ! प्रतिपन्न ॥)

जिन्होने (भरत आदि पुत्रो एव सामन्तो रूपी) बन्धुओ मे पृथ्वी का विभाजन कर दिया और जिन्होने निरन्तर एक वर्ष तक धन का दान किया है, ऐसे आपने जिस प्रकार (दीक्षा के समय समस्त पापपूर्ण आचरण के त्याग की) नियमधुरा को धारण किया, उस प्रकार हे धीर ! अन्य कौन धारण कर सकता है ? (११)

सोहसि पसाहिअंसो, कज्जलकसिणाहिं जयगुरु जडाहिं ।
उवगूढविसज्जिअरायलच्छिबाहच्छडाहिं व ॥१२॥
(शोभसे प्रसाधितांस कज्जलकृष्णाभिर्जगद्गुरो जटाभिः ।
उपगूढविसर्जितराजलक्ष्मीबाष्पच्छटाभिरिव ॥)

हे जगद्गुरु ! राज्यकाल मे आलिगन की हुई और दीक्षा-काल मे त्याग की गई राज्य-लक्ष्मी की मानो अश्रुधारा ही हो उस प्रकार की काजल के समान श्याम जटा से अलकृत स्कधयुक्त आप सुशोभित हो रहे हैं। (१२)

उवसामिआ अणज्जा, देसेसु तए पवन्नमोणेण ।
अभणंत च्चिअ कज्जं, परस्स साहंति सप्पुरिसा ॥१३॥
(उपशमिता अनार्या देशेषु त्वया प्रपन्नमौनेन ।
अभणन्त एव कार्यं परस्य साधयन्ति सत्पुरुषाः ॥)

हे नाथ ! आपने (वहली, अडम्व, इल्लायोनक आदि अनार्य देशो मे) अनार्यो को मौन धारण करके शान्त किये वह सचमुच एक आश्चर्य है, (क्योकि किसी को भी शान्त करने का उपाय वाक्-चातुर्य है, अथवा यह

हे भुवन-प्रदीप ! केवलज्ञान की पूजा के समय भरत ने आपको भी चक्र रत्न के समान देखा, क्योकि विषय-तृष्णा पूज्य जनो को भी मति विभ्रम कराती है। (१७)

पढमसमोसरणमुहे, तुह केवलसुरवहूकओज्जोआ ।
जाया अग्गेई दिसा, सेवासयमागयसिहि व्व ॥ १८ ॥
(प्रथमसमवसरणमुखे तव केवल सुरवधू कृतोद्योता ।
जाता आग्नेयी दिशा सेवास्वयमागतशिखीव ॥)

आपके प्रथम समवसरण के महोत्सव मे केवल सुर-सुन्दरियो (की द्युति से) प्रकाशित अग्नि दिशा भक्ति से आकर्षित हो कर स्वत ही आये हुए अग्नि देव के समान हो गई। (१८)

गहिअवयभगमलिणो, नूणं दूरोणएहिं मुहराओ ।
ठवि(ई) ओ पढमिल्लुअतावसेहिं तुह देसणे पढमे ॥ १९ ॥
(गृहीतव्रतभङ्गमलिनो नूनं दुरावनतैर्मुखरागः ।
स्थगितः प्रथमोत्पन्नतापसैस्तव दर्शने प्रथमे ॥)

केवलज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् समवसरण मे आपके प्रथम दर्शन होने पर, प्रथम उत्पन्न हुए अत्यन्त विनम्र तापसो ने आपके साथ दीक्षा के समय ग्रहण किये हुए सयम व्रत के भग से मलिन बना अपना चेहरा (नमस्कार के बहाने) सचमुच ढक दिया। (१९)

तेहिं परिवेढिएण य, वूढा तुमए खण कुलवइस्स ।
सोहा विअडसत्थल — घोलतजडाकलावेण ॥ २० ॥
(तैः परिवेष्टितेन च व्यूढा त्वया क्षण कुलपतेः ।
शोभा विकटासस्थलप्रेंखज्जटाकलापेन ॥)

तथा (वदनार्थ आये) उन तापसो से घिरे हुए और विशाल स्कध-प्रदेश को स्पर्श करती जटा-समूह युक्त आप क्षण भर के लिए कुलपति के रूप मे सुशोभित हुए। (२०)

तुह रूव पिच्छता, न हुंति जे नाह ! हरिसपडिहत्था ।
समणा वि गयमण च्चिय, ते केवलिणो जइ न हुति ॥ २१ ॥
(तव रूप पश्यन्तो न भवन्ति ये नाथ ! हर्षपरिपूर्णाः ।
समनस्का अपि गतमनस्का एव ते केवलिनो यदि न भवन्ति ॥)

हे नाथ ! आपका (सर्वोत्तम) रूप अवलोकन करने वाले (जीव) यदि हर्षित नही होते तो, यदि वे सर्वज्ञ न हो तो फिर वे सज्ञी होते हुए भी सचमुच असज्ञी हैं। (२१)

पत्ता णिस्सामन्न, समुन्नइ जेहिं देवया अन्ने ।
ते दिंति तुम्ह गुणसकहासु हास गुणा मज्झ ॥ २२ ॥
(प्राप्ता नि सामान्या समुन्नति यैर्देवका अन्ये ।
ते ददते तव गुणसकथासु हास गुणा मम ॥)

जिन गुणो के द्वारा अन्य देवो ने असाधारण प्रभुता प्राप्त की वे (कल्पित) गुण आपके (सद्भूत) गुणो के सकीर्तन के समक्ष मुझे हास्य उत्पन्न करते हैं। (हरि, हर आदि की प्रभुता कल्पित है, जब कि आपकी प्रभुता का आधार वास्तविक गुण है।) (२२)

दोसरहिअस्स तुह जिण ! निंदावसरंमि भग्गपसराए ।
वायाइ वयणकुसलावि, बालिसायंति मच्छरिणो ॥ २३ ॥
(दोषरहितस्य तव जिन ! निन्दावसरे भग्नप्रसरया ।
वाचा वचनकुशला अपि बालिशायन्ते मत्सरिणः ॥)

हे जिनेश्वर ! वचन कहने मे कुशल मत्सरी लोग भी सर्वथा दोष हीन आपकी निन्दा करने के समय भग्न प्रसार वाली वाणी से चाहे जैसा बोल कर बालक की तरह चेष्टा करते है। (२३)

अणुरायपल्लविल्ले, रइवल्लिफुरतहासकुसुमंमि ।
तवताविआ वि न मणो, सिंगारवणे तुहल्लीणो ॥ २४ ॥
(अनुरागपल्लववति रतिवल्लिस्फुरद्धासकुसुमे ।
तपस्तापितमपि न मन शृगारवने तव लीनम् ॥)

अनुराग रूपी पल्लवो से युक्त और रति रूपी लता पर खिलने वाले हास्य रूपी पुष्पो से युक्त शृगार रूपी वन मे अनशन आदि तपस्या रूपी ताप से तप्त आपका मन वहा लगा नही। (यह आश्चर्य है क्योकि ग्रीष्म ऋतु के ताप से तप्त जन तो वन का आश्रय लेते है।) (२४)

आणा जस्स विलइआ, सीसे सेस व्व हरिहरेहिं पि ।
सो वि तुह झाणजलणे, मयणो मयणं विअ विलीणो ।। २५ ।।
(आज्ञा यस्य विलगिता शीर्षे शेषेव हरिहराभ्यामपि ।
सोऽपि तव ध्यानज्वलने मदनो मदनमिव विलीनः ।।)

जिसकी आज्ञा को हरि एव हर ने भी शेषनाग की तरह शिरोधार्य की है, वह (अप्रतिहत सामर्थ्य वाला) मदन भी आपके शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि मे मोम की तरह पिघल गया। (२५)

पइ नवरि निरभिमाणा, जाया जयदप्पभंजणत्ताणा ।
वम्महनरिंदजोहा, दिट्ठिच्छोहा मयच्छीण ।। २६ ।।
(त्वयि केवल निरभिमाना जाता जगदर्पभञ्जोत्ताना: ।
मन्मथनरेन्द्रयोद्धा दृष्टिक्षोभा मृगाक्षीणाम् ।।)

विश्व के दर्प को चूर करने मे समर्थ कदर्प राजा के योद्धा स्वरूप मृगाक्षियो के कटाक्ष केवल आपके सम्बन्ध मे ही निरभिमानी रहे है, अर्थात् सफल नही हुए। (२६)

विसमा रागद्दोसा, निंता तुरय व्व उप्पहेण मण ।
ठायति धम्मसारहि ! दिट्ठे तुह पवयणे नवर ।।२७।।
(विषमौ रागद्वेषौ नयन्तौ तुरगाविवोत्पथेन मनः ।
तिष्ठतो धर्मसारथे ! दृष्टे तव प्रवचने केवलम् ।।)

जिस प्रकार मिथ्या मार्ग पर (रथ को) लेजाने वाले अश्व, सारथी की चावुक देख कर सीधे मार्ग पर जाने लगते है, उसी प्रकार से धर्म रूपी रथ के हे सारथी ! जव आपके प्रवचन , सिद्धान्त के दर्शन होते है तब चित्त को कुमार्ग की ओर ले जाने वाले विपम राग एव द्वेष रुक जाते है अर्थात् उनका कोई जोर नही चलता। (२७)

पच्चलकसायचोरे, सइसनिहिआसिचक्कधणुरेहा ।
हुति तुह च्चिअ चलणा, सरण भीआण भवरन्ने ।।२८।।
(प्रत्यलकषायचौरे. सदासन्निहितासिचक्रधनूरेखौ ।
भवतस्तवैव चरणो शरण भीताना भवारण्ये ।।)

हे भगवन् ! जिसमे प्रवल कपाय रूप चोर वसते है ऐसे भव-वन मे भयभीत जीवो को तलवार, चक्र एव धनुप रूपी रेखाओ से सदा लाछित आपके ही चरण शरण स्वरूप है। (२८)

तुह समयसरब्भट्ठा, भमति सयलासु रुक्खजाईसु।
सारणिजल व जीवा, ठाणट्ठाणेसु वज्झता ॥२६॥
(तव समयसरोभ्रष्टा भ्राम्यन्ति सकलासु रूक्षजातिषु।
सारणिजलमिव जीवाः स्थानस्थानेषु वध्यमाना ॥)

जिस प्रकार सारणी (नीक) का जल समस्त वृक्ष जातियो मे स्थान-स्थान पर वधा हुआ फिरता है उसी प्रकार से हे नाथ ! आपके सिद्धान्त रूप सरोवर से भ्रष्ट जीव चौरासी लाख जीव योनि रूप सकल रुक्ष जाति/कठोर उत्पत्ति स्थानो मे कर्मों के द्वारा स्थान-स्थान पर वधे हुए भ्रमण करते है। (२६)

सलिल (लि) व्व पवयणे तुह, गहिए उड्ढ अहो विमुक्कम्मि।
वच्चति नाह ! कूवय - रहट्टघडिसनिहा जीवा ॥३०॥
(सलिल इव प्रवचने तव गृहीते ऊर्ध्वमधो विमुक्ते।
व्रजन्ति नाथ ! कूपकारघट्टघटीसन्निभा जीवा ॥)

हे नाथ ! कुँए के अरघट्ट की घटी के समान जीव आपके प्रवचन को जव जल के समान ग्रहण करते है तव वे ऊपर (स्वर्ग अथवा मोक्ष मे) जाते हैं और जव उन्हे छोड देते है तव नीचे (तिर्यंच अथवा नरक मे) जाते है। (३०)

लीलाइ निंति मुक्ख, अन्ने जह तित्थिआ तहा न तुम।
तहवि तुह मग्गलग्गा, मग्गति वुहा सिवसुहाइ ॥३१॥
(लीलया नयन्ति मोक्षमन्ये यथा तीर्थिका· तथा न त्वम्।
तथापि तव मार्गलग्ना, मृगयन्ते वुधज्ञ· शिवसुखानि ॥)

जिस प्रकार अन्य वाद्ध आदि दार्शनिक लीला पूर्वक जीवो को मोक्ष मे ले जाते है उस प्रकार आप नहीं करते हैं, तो भी विचक्षण जन यथार्थ दर्शन, ज्ञान एव चारित्र रूप आपके मार्ग मे लगे हुए मोक्ष-सुखो को खोजते है। (३१)

सारिव्व बंधवहमरणभाइणो जिण ! न हुंति पइ दिट्ठे ।
अक्खेहि वि हीरता, जीवा ससारफलयमिम ।। ३२।।
(शारय इव बन्धवधमरणभागिनो जिन ! भवन्ति त्वयि दृष्टे ।
अक्षैरपि ह्रियमाणा जीवाः ससारफलके ।।)

जिस प्रकार पाशो से खिचे हुए मोहरे वध, वध, एव मृत्यु के भाजन वनते है उसी प्रकार से हे जिनेश्वर ! इस ससार रूपी फलक मे इन्द्रिय रूपी मोहरो से गतियो मे भ्रमण करते जीव जव आपको (यथार्थ वुद्धि के द्वारा) देखते है तव वे (तिर्यंच और नरक गति से सम्वन्धित) वध, वध, एव मृत्यु के भागी नही होते । (३२)

अवहीरिआ तए पहु ! निति निओगिक्कसखलाबद्धा ।
कालमणत सत्ता, सम कयाहारनीहारा ।।३३।।
(अवधोरितास्त्वया प्रभो ! नयन्ति निगोदैकश्रृङ्खलाबद्धाः ।
कालमनन्त सत्त्वा. सम कृताहारनीहारा ।।)

(जिस प्रकार कुछ राजपुरुष राजा की अवहेलना होने पर कारागृह मे लोहे की जजीरो मे बँध कर अन्य कैदियो के साथ सम काल मे आहार एव नीहार की क्रियाएँ करने मे अत्यन्त समय खोते है उसी प्रकार से) हे नाथ ! (अव्यवहार राशि के कारण साधन के अभाव मे धर्मोपदेश से वचित रहने के कारण) आप द्वारा तिरस्कृत जीव निगोद रूपी एक ही जजीर से बँध कर एक साथ आहार-नीहार करने मे अनन्त काल खोते है । (३३)

जेहि तविआण तव-निहि ! जासइ परमा तुमम्मि पडिवत्ती ।
दुक्खाइ ताइ मन्ने, न हु ति कम्म अहम्मस्स ।।३४।।
(यैस्तापितानां तपोनिधे ! जायते परमा त्वयि प्रतिपत्ति ।
दुःखानि तानि मन्ये न भवन्ति कर्माधर्मस्य ।।)

हे तपोनिधि ! जिन दु:खो से पीडित जीवो को आपके प्रति आन्तरिक प्रेम उत्पन्न होता है, वे दु ख अधर्म के कार्य नही है, (परन्तु वे पुण्यानुबधी होने से उल्टे प्रशसनीय है) यह मै मानता हूँ । (३४)

होही मोहुच्छेग्रो, तुह सेवाए धुव त्ति नंदामि।
ज पुण न वदिग्रव्वो, तत्थ तुम तेण झिज्जामि ।।३५।।
(भविष्यति मोहोच्छेदस्तव सेवया ध्रुव इति नन्दामि।
यत् पुनर्न वन्दितव्यस्तत्र त्व तेन क्षीये ।।)

ग्रापकी सेवा मे मेरा मोह ग्रवश्य नष्ट होगा, इस वात का मुझे हर्ष है, परन्तु (मोहोच्छेद होने पर मुझे केवलज्ञान प्राप्त होगा ग्रौर केवलज्ञानी केवलज्ञानी को नमन नही करता यह नियम होने से मुझ पर ग्रनुपम उपकार करने वाले) ग्रापको भी मैं वन्दन नही कर सकूँगा, ग्रत मैं क्षीण हो रहा हूँ, शोकाकुल हो रहा हूं। (३५)

जा तुह सेवाविमुहस्स, हु तु मा ताउ मह समिद्धीग्रो।
ग्रहिग्रारसपया इव, पेरतविडबणफलाग्रो ।।३६।।
(यास्तव सेवाविमुखस्य भवन्तु मा ता मम समृद्धय ।
ग्रधिकारसपद इव पर्यन्तविडम्बनफला ।।)

ग्रन्त मे विडम्बना स्वरूप फलदायक राज्याधिकार की सम्पत्तियो के समान सम्पत्ति ग्रापकी सेवा से विमुख (सर्वथा जिन-धर्म से रहित प्रथम गुण स्थान पर रहने वाले मनुष्य ग्रादि) को होती हैं, वे सम्पत्ति मुझे प्राप्त न हो। (३६)

भित्तूण तम दीवो, देव ! पयत्थे जणस्स पयडेइ।
तुह पुण विवरीयमिण, जईक्कदीवस्स निव्वडिग्र ।।३७।।
(भित्वा तमो दोपो देव ! पदार्थान् जनस्य प्रकटयति।
तव पुनर्विपरोतमिद जगदेकदीपस्य निष्पन्नम् ।।)

हे देव ! दीपक ग्रधकार को भेद कर मनुष्य को पदार्थ देखने मे सहायता करता है, परन्तु विश्व के ग्रद्वितोय दीपक स्वरूप ग्रापका यह (दीपक कार्य) तो विपरीत है, (क्योकि ग्राप तो प्रथम उपदेश रूपी किरण के द्वारा भव्य जीवो को जोव-ग्रजोव ग्रादि पदार्थो का वोध कराते है, ग्रौर तत्पश्चात् उस प्रकार उन्हे यथार्थ ज्ञान देकर उनके ग्रज्ञान रूपी ग्रधकार का ग्रन्त करते है।) (३७)

मिच्छत्तविसपसुत्ता, सचेयरणा जिरण ! न हुति कि जीवा ?
कण्णम्मि कमइ जइ किंत्तिग्र पि तुह वयरणमन्तस्स ॥३८॥
(मिथ्यात्वविषप्रसुप्ताः सचेतना जिन ! न भवन्ति किं जीवाः ?
कर्णयो· क्रामति यदि कियदपि तव वचनमन्त्रस्य ॥)

यदि मिथ्यात्व रूपी विष से मूछित जीवो के कानो मे हे वीतराग ! आपकी वाणी रूपी मन्त्र का अमुक अश भी प्रविष्ट हो तो वे जीव (श्री रोहिणेय चोर तथा चिलाती पुत्र की तरह) क्या सचेत नही होते ? (३८)

आयन्निश्रा खणद्ध , पि पइ थिर ते करति अणुराय ।
परसमया तहवि मण, तुह समयन्नूण न हरंति ॥३६॥
(आकर्णिता. क्षणार्धमपि त्वयि स्थिर ते कुर्वन्त्यनुरागम् ।
परसमयास्तथापि मनस्त्वत्समयज्ञाना न हरन्ति ॥)

अन्य (वैशेपिक, नैयायिक, जैमिनीय, साख्य, सौगत प्रमुख) दार्शनिको के आगम आधे क्षण तक श्रवण करने पर भी आपके प्रति हमारा अनुराग स्थिर रहता है और जिसमे आपके सिद्धातो के ज्ञाताओ के चित्त वे हर नही पाते । (३६)

वाईहि परिग्गहिश्रा, करति विमुह खणेण पडिवक्ख ।
तुज्झ नया नाह ! महागय व्व अन्नुन्नसलग्गा ॥४०॥
(वादिभिः परिगृहीता· कुर्वन्ति विमुख क्षणेन प्रतिपक्षम् ।
तव नया नाथ ! महागजा इवान्योन्यसलग्नाः ॥)

हे नाथ ! अश्वो से घिरे हुए तथा परस्पर मिले हुए महान् गज जिस प्रकार शत्रु-सेना को रणभूमि मे से पीछे हटाते है उस प्रकार से अत्यन्त चतुर एव वाद-लब्धि से अलकृत वादियो के द्वारा स्वीकार करते हुए तथा परस्पर सगत से आपके नय क्षण भर मे प्रतिपक्ष को (वाद-विवाद के क्षेत्र से) विमुख करते है । (४०)

पावति जस असमजसा वि वयणेहि जेहि परसमया ।
तुह समयमहो अहिणो, ते मदा बिदुनिस्सदा ॥४१॥
(प्राप्नुवन्ति यशोऽसमञ्जसा अपि वचनैर्यैः परसमयाः ।
तव समयमहोदधेस्ते मन्दा बिंदुनिस्यन्दाः ॥)

अन्य दार्शनिको के युक्तिविकल सिद्धात भी (सूर्य-चन्द्र के ग्रहण आदि बता कर) जिन वचनो के द्वारा यश प्राप्त करते हैं, वे वचन सिद्धान्त रूपी महासागर के सामान्य विन्दुओ की बूँदे हैं। (४१)

पइ मुक्के पोअम्मिव, जीवेहिं भवन्नवम्मि पत्ताओ।
अणुवेलमावयामुहपडिएहिं विडम्बणा विविहा ॥४२॥
(त्वयि मुक्ते पोत इव जीवैर्भवार्णवे प्राप्ता।
अनुवेलमापदामुखपतितैर्विडम्बना विविधाः॥)

(जिस प्रकार सरिता के भीतर पडे हुए जीव जहाज के अभाव मे डूब जाते हैं, दुष्ट जलचर प्राणियो के द्वारा मृत्यु के मुख मे समा जाने आदि की विविध विपत्तिया प्राप्त करते हैं उसी प्रकार हे नाथ!) जिन जीवो ने नौका-तुल्य आपका त्याग किया है वे आपत्तियो मे फँसे हुए जीव ससार-सागर मे विविध विडम्बनाओ को वार-वार प्राप्त करते हैं (४२)

वुच्छ अपत्थिआगय - मच्छभवन्तोमुहुत्तवसिएण।
छावट्ठी अयराइ, निरतर अप्पइट्ठाणे ॥४३॥
(उषितमप्रार्थितागममत्स्यभवान्तर्मुहूर्त्तमुषितेन।
षट्षष्टि: अतराणि (सागरोपमानि) निरन्तरमप्रतिष्ठाने॥)

(हे देव! अन्य भवो की तो क्या बात कहूँ) अचानक आये हुए मत्स्य के भव मे अन्तर्मुहूर्त काल तक रह कर मैं (सातवी नरक के) अप्रतिष्ठान नरकावास मे छासठ सागरोपम तक अविच्छिन्न रूप से रहा। (४३)

सीउण्हवासधारा - निवायदुक्खं सुतिक्खमणुभूअ।
तिरिअत्तणम्मि नाणा - वरणसमुच्छाइएणावि ॥४४॥
(शीतोष्णवर्षधारानिपातदुःख सुतीक्ष्णमनुभूतम्।
तिर्यक्त्वे ज्ञानावरणसमुच्छादितेनापि॥)

ज्ञानावरण कर्म से अत्यन्त आच्छादित होकर भी मैंने तिर्यंच के भव मे शीत, ताप एव वर्षा की धारा गिरने का अत्यन्त तीव्र दुःख अनुभव किया। (यह आश्चर्य है) (४४)

अंतो निक्खतेहि, पत्तेहि पिअकलत्तपुत्तेहि ।
सुन्ना मणुस्सभवणाडएसु निज्झाइआ अंका ।।४५।।
(अन्तर्निष्क्रान्तैः प्राप्तैः (पात्रैः) प्रियकलत्रपुत्रैः ।
शून्या मनुष्यभवनाटकेषु निध्याता अंका· ।।)

(हे नाथ) मनुष्य भव रूपी नाटको मे मुझे प्राप्त प्रिय पत्नी एव पुत्र वृद्धावस्था से पूर्व मृत्यु के मुख मे समा जाने से मुझे शून्य दिखाई दिया। (४५)

दिट्ठा रिउरिद्धीओ, आणाउ कया महड्ढिअसुराणं ।
सहिआ य हीणदेवत्तणेसु दोगच्चसंतावा ।।४६।।
(दृष्टा रिपुऋद्धय आज्ञाः कृता महर्द्धिकसुराणाम् ।
सोढौ च हीनदेवत्वेषु दौर्गत्यसन्तापौ ।।)

तदुपरान्त (देवलोक मे भी) मैंने शत्रुओ की सम्पत्ति देखी, महर्द्धिक सुरो के शासनो को सिर पर चढाया और (किल्बिषिक जैसे) नीच देव-भव मे दरिद्रता एव सन्ताप सहन किये। (४६)

सिंचतेण भववणं, पल्लट्टा पल्लिआऽरहट्टु व्व ।
घडिसठाणोसप्पिणिअवसप्पिणिपरिगया बहुसो ।।४७।।
(सिञ्चता भववन परिवर्ताः प्रेरिता अरघट्ट इव ।
घटीसस्थानोत्सर्पिण्यवसर्पिणोपरिगता बहुशः ।।)

(हे नाथ! मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद एव योग, कर्मबध के इन पाच कारण रूपी जल मे) भव-वन का सिंचन करने वाले मैंने अरघट्ट की तरह घटी-सस्थान रूपी उत्सर्पिणी एव अवसर्पिणी से युक्त अनेक पुद्गल परावर्त व्यतीत किये। (४७)

भमिओ कालमणत, भवम्मि भीओ न नाह! दुक्खाण ।
सपइ तुमम्मि दिट्ठे, जाय च भयं पलाय च ।।४८।।
(भ्रान्त. कालमनन्तं भवे भीतो न नाथ! दुःखेभ्यः ।
सम्प्रति त्वयि दृष्टे जात च भय पलायितं च ।।)

हे नाथ! मैं ससार मे अनन्त काल तक भटकता रहा तो भी दु खो से भयभीत नही हुआ, परन्तु अभी जब मैंने आपको देखा तब (क्रोध आदि से होने वाली विडबना का बोध होने पर) भय उत्पन्न हुआ और (साथ ही

नाथ शम आदि से दूर कर गरूँगा यह ज्ञान होने पर) वह पलायन भी कर गया। (४८)

जइवि कयत्थो जगगुरु! मज्झत्थो जइवि पत्थेमि।
दाविज्जसु अप्पाण, पुणो वि कइया वि अम्हाण ॥४९॥
(यद्यपि कृतार्थो जगद्गुरो! मध्यस्था यद्यपि तथापि प्रार्थये।
दर्शयेदात्मान पुनरपि कदाचिदप्यस्माकम् ॥)

हे जगद्गुरु! यद्यपि आप कृतार्थ हैं तथा मध्यस्थ है तो भी मैं आपको प्रार्थना करता हूँ कि आप किसी समय अथवा किसी देश मे भी भ्रमण कर हमे अपना दर्शन दे। (४९)

इअ झाणग्गिपलीविअकम्मिंधण! वालवुद्धिणा वि मए।
भत्तीइ थुओ भवभयसमुद्दवोहित्थ! वोहिफलो ॥५०॥
(इति ध्यानाग्निप्रदीपितकर्मेन्धन! वालवुद्धिनाऽपि मया।
भक्त्या स्तुतो भवभयसमुद्रयानपात्र! वोधिफल ॥)

ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा कर्म रूपी ईंधन को प्रज्वलित करने वाले और अत्यन्त दुस्तर भव-भय रूपी समुद्र को पार करने मे यान के समान हे नाथ! मैंने बाल बुद्धि से सम्यक्त्व फल-दायक आपकी इस प्रकार से भक्तिपूर्वक स्तुति की। (५०)

□—□

कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य द्वारा रचित

अयोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका

अगम्यमध्यात्मविदामवाच्यं ।
वचस्विनामक्षवतां परोक्षम् ।।
श्रीवर्धमानाभिधमात्मरूप-
महं स्तुतेर्गोचरमानयामि ।। १ ।।

अध्यात्मवेत्ताओ के लिए अगम्य, पडितो के लिए अनिर्वचनीय और इन्द्रियो के ज्ञानियो के लिये परोक्ष परमात्म स्वरूप श्री वर्धमान स्वामी को मैं अपनी स्तुति का विषय बनाता हू। (१)

स्तुतावशक्तिस्तव योगिनां न किं ।
गुणानुरागस्तु ममापि निश्चलः ।।
इद विनिश्चित्य तव स्तव वदन् ।
न बालिशोऽप्येष जनोऽपराध्यति ।। २ ।।

हे भगवान्! आपकी स्तुति करने मे क्या योगी पुरुष भी असमर्थ नही है? (असमर्थ होते हुए भी आपके गुणो के प्रति अनुराग से ही योगियो ने आपकी स्तुति की है उस प्रकार से) मेरे हृदय मे भी आपके गुणो के प्रति दृढ अनुराग है, अत मेरे समान मूर्ख व्यक्ति भी आपकी स्तुति करने पर भी अपराध का भागीदार नही होता। (२)

क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्था ।
अशिक्षितालापकला क्व चैषा ।।
तथापि यूथाधिपतेः पथिस्थः ।
स्खलद्गतिस्तस्य शिशुर्न शोच्य ।। ३ ।।

गम्भीर अर्थ युक्त श्री सिद्धसेन दिवाकर सूरि की स्तुतियाँ कहाँ और अभ्यास रहित मेरी यह वक्तृत्व-कला कहाँ? तो भी बडे-बडे हाथियो के

मार्ग पर चलने वाला हाथी का बच्चा स्खलित होने पर भी जिस प्रकार चिन्ता का कारण नही बनता, उसी प्रकार से यदि मैं भी स्खलित हो जाऊँ तो चिन्ता का कारण नही है। (३)

जिनेन्द्र ! यानेव विबाधसे स्म,
दुरन्तदोषान् विविधैरुपायैः ।
त एक चित्र त्वदसूययेव,
कृता. कृतार्थाः परतीर्थनाथैः ॥४॥

हे जिनेन्द्र ! जिन दुरन्त दोषो का आपने विविध उपायो के द्वारा नाश किया है, आश्चर्य है कि उन्ही दोषो को अन्य मतो के देवो ने मानो आपके प्रति ईर्षा से ही स्वीकार कर लिया है। (४)

यथास्थित वस्तु दिशन्नधीश !
न तादृश कौशलमाश्रितोऽसि ।
तुरङ्गशृङ्गाण्युपपादयद्भ्यो,
नम परेभ्यो नवपण्डितेभ्य. ॥५॥

हे स्वामिन् ! आपने पदार्थों का जैसा है वैसा ही वर्णन किया है, अत आपने अन्य मतावलम्बियो की तरह कोई कुशलता प्रदर्शित नही की। अश्व के सिंगो की तरह असभव वस्तुओ को उत्पन्न करने वाले अन्य मत के नूतन पण्डितो को हम नमस्कार करते हैं। (५)

जगत्यनुध्यानबलेन शश्वत,
कृतार्थयत्सु प्रसभ भवत्सु ।
किमाश्रितोऽन्यै शरण त्वदन्य ,
स्वमासदानेन वृथा कृपालुः ॥६॥

हे पुरुषोत्तम ! ध्यान रूपी उपकार के द्वारा तीनो लोको को सदा कृतार्थ करने वाले आपको छोड कर अन्य मतावलम्बियो ने अपना मांस दान करके दयालु कहलाने वालो का शरण क्यो ग्रहण किया है ? यह तनिक भी समझ मे नही आता। (यह कटाक्ष बुद्ध पर किया है।) (६)

स्वय कुमार्गंलपिता नु नाम,
प्रलम्भमन्यानपि लम्भयन्ति ।
सुमार्गग तद्विदमादिशन्त–
मसूययान्धा अवमन्वते च ॥७॥

ईर्षा से अवे बने मनुष्य स्वय कुमार्ग मे लीन होकर दूसरो को कुमार्ग की ओर ले जाते है और सुमार्ग पर चलने वाले, सुमार्ग के ज्ञाताओ तथा सुमार्ग के उपदेशको का अपमान करते है, यह अत्यन्त खद की वात है। (७)

प्रादेशिकेभ्यः परशासनेभ्यः,
पराजयो यत्तव शासनस्य।
खद्योतपोतद्यु तिडम्बरेभ्यो
विडम्बनेय हरिमण्डलस्य ॥८॥

हे प्रभ ! वस्तु के तनिक अश को ग्रहण करने वाले अन्य दर्शनों के द्वारा आपके मत का पराभव करना एक छोटे से जुगनू के प्रकाश से सूर्य मण्डल का पराभव करने के समान है। (८)

शरण्य ! पुण्ये तव शासनेऽपि,
सदेग्धि यो विप्रतिपद्यते वा।
स्वादौ स तथ्ये स्वहिते च पथ्ये,
संदेग्धि वा विप्रतिपद्यते वा ॥९॥

हे शरणागत आश्रयदाता ! जो मनुष्य आपके पवित्र शासन के प्रति शका एव विवाद करते है, वे सचमुच स्वादिष्ट, अनुकूल एव हितकर भोजन के प्रति शका और विवाद करते है। (९)

हिंसाद्यसत्कर्मपथोपदेशाद-
सर्वविन्मूलतया प्रवृत्तेः।
नृशंसदुर्बुद्धिपरिग्रहाच्च,
ब्रूमस्त्वदन्यागममप्रमाणम् ॥१०॥

हे भगवन् ! हिंसा आदि असत्य कर्मों के उपदेशक होने से, असर्वज्ञो द्वारा कथित होने से तथा निर्दय एव दुर्बुद्धि मनुष्यो द्वारा ग्रहण किये हुए होने से आपसे अन्य मतो के आगम प्रामाणिक नही हैं। (१०)

हितोपदेशात्सकलज्ञक्लृप्ते-
र्मुमुक्षुसत्साधुपरिग्रहाच्च।
पूर्वापरार्थेप्यविरोधसिद्धे-
स्त्वदागमा एव सतां प्रमाणम् ॥११॥

हे भगवन् ! हितकर उपदेशक होने से, सर्वज्ञ कथित होने से, मुमुक्षु एव उत्तम साधु पुरुषो द्वारा अगीकार किए होने से और पूर्वापर पदार्थों के सम्बन्ध मे विरोध रहित होने से आपके आगम ही सत्पुरुषो के लिये प्रमाण है। (११)

क्षिप्येत वान्यैः सदृशीक्रियेत वा,
तवाङ्घ्रिपीठे लुठन सुरेशितुः।
इद यथावस्थितवस्तुदेशन,
परैः कथकारमपाकरिष्यते ॥१२॥

हे जिनेश्वर ! अन्य वाद वाले आपके चरण कमलो मे इन्द्र के नमस्कार की बात चाहे न मानें अथवा अपने इष्ट देवो मे भी उनकी कल्पना करके चाहे आपकी समानता करे, परन्तु वस्तु के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन रूप आपके गुण का अपलाप वे किस प्रकार करेंगे ? (१२)

तद्दु:षमाकालखलायित वा,
पचेलिम कर्म भवानुकूलम्।
उपेक्षते यत्तव शासनार्थ-
मयं जनो विप्रतिपद्यते वा ॥१३॥

हे भगवन् ! जो मनुष्य आपके शासन की उपेक्षा करते हैं अथवा उसमे विवाद करते है वे इस पाचवे आरे के कुप्रभाव से ही ऐसा करते हैं अथवा भव-परिभ्रमण के अनुकूल उनके अशुभ कर्मो का उदय समझना चाहिये। (१३)

पर सहस्रा शरदस्तपासि,
युगान्तर योगमुपासता वा।
तथापि ते मार्गमनापतन्तो,
न मोक्ष्यमाणा अपि यान्ति मोक्षम् ॥१४॥

हे भगवन् ! चाहे अन्य मतावलम्बी हजारों वर्षों तक तप करें अथवा युगान्तर तक योग का अभ्यास करें, तो भी उनको मोक्ष की इच्छा होने पर भी आपके मार्ग का अवलम्बन लिये बिना उन्हे मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। (१४)

अनाप्तजाड्यादिविनिर्मितित्व-
सभावनासभविविप्रलम्भाः ।
परोपदेशा परमाप्तक्लृप्त-
पथोपदेशे किमु संरभन्ते ॥१५॥

हे देवाधिदेव ! अनाप्तो की मन्द बुद्धि से रचित एव विसवाद से परिपूर्ण अन्य मतो के उपदेश, परम आप्त आपके द्वारा प्रतिपादित किये गये उपदेशो के समक्ष भला कैसे ठहर सकते हे ? (१५)

यदार्जवादुक्तमयुक्तमन्यै-
स्तदन्यथाकारमकारि शिष्यैः ।
न विप्लवोऽय तव शासनेऽभू—
दहो अधृष्या तव शासनश्रीः ॥१६॥

अन्य मतावलम्बियो के गुरुओ ने सरल भाव से जो कुछ भी अयोग्य कथन किया था उसका उनके शिष्यो ने विपरीत ढग से प्रतिपादन किया। हे भगवन् ! उस प्रकार का विप्लव आपके शासन मे नही हुआ। अहो ! आपके शासन की लक्ष्मी का किसी से भी पराभव नही हो सकता। (१६)

देहाद्ययोगेन सदाशिवत्व,
शरीरयोगादुपदेशकर्म ।
परस्परस्पर्धि कथ घटेत,
परोपक्लृप्तेष्वधिदैवतेषु ॥१७॥

हे वीतराग ! देह आदि के अयोग से सदाशिवत्व एव देह आदि के योग से उपदेश-कर्म ये दो परस्पर विरोधी धर्म अन्यो द्वारा कल्पित देवो मे किस प्रकार हो सकते है ? कदापि नही हो सकते। (१७)

प्रागेव देवान्तरसश्रितानि,
रागादिरूपाण्यवमान्तराणि ।
न मोहजन्या करुणामपीश !
समाधिमाध्यस्थ्ययुगाश्रितोऽसि ॥१८॥

राग आदि दोषो ने प्रथम से ही अन्य देवो का आश्रय लिया है। हे अधीश ! समाधि एव मध्यस्थता को जपने वाले आपने मोहजनित करुणा का भी आश्रय नही लिया। (१८)

जगन्ति भिन्दन्तु सृजन्तु वा पुन-
र्यथा तथा वा पतय प्रवादिनाम् ।
त्वदेकनिष्ठे भगवन् भवक्षय-
क्षमोपदेशे तु पर तपस्विन ॥१६॥

हे भगवन्! अन्य मत वाले देव चाहे जिस प्रकार से जगत् का प्रलय करें अथवा जगत् की उत्पत्ति करें, परन्तु भव-भ्रमण का नाश करने मे समर्थ उपदेश देने मे, आपकी तुलना मे वे बिचारे रक ह। (१६)

वपुश्च पर्यङ्कशय श्लथ च,
दृशौ च नासानियते स्थिरे च ।
न शिक्षितेय परतीर्थनाथै-
र्जिनेन्द्र! मुद्रापि तवान्यदास्ताम् ॥२०॥

हे जिनेन्द्र! आपके अन्य गुणो को धारण करना तो दूर रहा, परन्तु अन्य देव पर्यक आसन वाली, अकडता रहित देह वाली और नासिका पर स्थिर दृष्टि वाली आपकी मुद्रा तक नही सीख पाए। (२०)

यदीयसम्यक्त्वबलात् प्रतीमो,
भवादृशाना परमस्वभावम् ।
कुवासनापाशविनाशनाय,
नमोऽस्तु तस्मै तव शासनाय ॥२१॥

हे वीतराग! जिसके सम्यक्पने के बल से आप जैसो के शुद्ध स्वरूप का हम यथार्थ दर्शन कर सके ह, उस कुवासना रूपी बन्धन के नाशक आपके शासन को हमारा नमस्कार हो। (२१)

अपक्षपातेन परीक्षमाणा,
द्वय द्वयस्याप्रतिम प्रतीमः ।
यथास्थितार्थप्रथन तवैत-
दस्थाननिर्बन्धरस परेषाम् ॥२२॥

हे भगवन्! जब हम निष्पक्ष बन कर परीक्षा करते है तब आपका यथार्थ रूप से वस्तु का प्रतिपादन और अन्य मतावलम्बियो का पदार्थो को विपरीत रूप से स्थापन करने का आग्रह दोनो वस्तु अप्रतिम प्रतीत होती ह। (२२)

अनाद्यविद्योपनिषन्निषण्णै-
विशृंखलैश्चापलमाचरद्भिः ।
अमूढलक्ष्योऽपि पराक्रिये य-
स्त्वत्किङ्करः किं करवाणि देव ! ॥२३॥

हे देव ! अनादि अविद्या मे रमे हुए, उच्छृंखल, चपल एव अमूढ लक्ष्य से युक्त पुरुष भी इस तेरे सेवक के द्वारा उचित मार्ग पर नही लाये जा सकते तो अब मैं क्या करूँ ? (२३)

विमुक्तवैरव्यसनानुबन्धाः,
श्रयन्ति यां शाश्वतवैरिणोऽपि ।
परैरगम्यां तव योगिनाथ !
तां देशना भूमिमुपाश्रयेऽहम् ॥२४॥

हे योगियो के नाथ ! स्वभाव से ही वैरी प्राणी भी शत्रुता छोड कर दूसरो के द्वारा अगम्य आपके जिस समवसरण का आश्रय लेते है, उस समवसरण (देशना) भूमि का मैं भी आश्रय ग्रहण करता हूँ। (२४)

मदेन मानेन मनोभवेन,
क्रोधेन लोभेन च सम्मदेन ।
पराजितानां प्रसभ सुराणां,
वृथैव साम्राज्यरुजा परेषाम् ॥२५॥

हे प्रभु ! मद, मान, काम, क्रोध, लोभ एव राग से अत्यन्त पराजित अन्य देवो का साम्राज्य - रोग (प्रभुता की व्यथा) सर्वथा व्यर्थ है। (२५)

स्वकण्ठपीठे कठिनं कुठारं,
परे किरन्तः प्रलपन्तु किंचित् ।
मनीषिणां तु त्वयि वीतराग !
न रागमात्रेण मनोऽनुरक्तम् ॥२६॥

वादी लोग अपने गले मे तीक्ष्ण कुल्हाडी का प्रहार करते हुए कुछ भी कहे, परन्तु हे वीतराग ! बुद्धिमानो का चित्त आपके प्रति केवल राग से ही अनुरक्त हो, ऐसी बात नही है। (२६)

सुनिश्चित मत्सरिणो जनस्य,
न नाथ ! मुद्रामतिशेरते ते ।
माध्यस्थ्यमास्थाय परीक्षका ये,
मणौ च काचे च समानुबन्धा. ॥२७॥

हे नाथ ! जो परीक्षक मध्यस्थता धारण करके काच और मणि मे समान भाव रखते है वे भी, मत्सरी-मनुष्यो की मुद्रा का अतिक्रमण नही करते, यह सुनिश्चित है। (२७)

इमा समक्ष प्रतिपक्षसाक्षिणा-
मुदारघोषामवघोषणा ब्रुवे ।
न वीतरागात्परमस्ति दैवत,
न चाप्यनेकान्तमृते नयस्थिति ॥२८॥

मैं प्रतिपक्षी व्यक्तियो के समक्ष यह उदार घोषणा करता हूँ कि वीतराग भगवान के अतिरिक्त अन्य कोई परम देव नही है और वस्तु का निरूपण करने के लिए अनेकान्तवाद के अतिरिक्त अन्य कोई नीति-मार्ग नही है। (२८)

न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो,
न द्वेषमात्रादरुचि परेषु ।
यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु,
त्वामेव वीर प्रभुमाश्रिता. स्मः ॥२९॥

हे वीर ! केवल श्रद्धा के कारण हमारा आपके प्रति पक्षपात नही है, और केवल द्वेष के कारण हमे अन्य देवो के प्रति शत्रुता नही है, किन्तु आप्तत्व की यथार्थ रूप से परीक्षा करके ही हमने आपका आश्रय लिया है। (२९)

तम स्पृशामप्रतिभासभाज,
भवन्तमप्याशु विविन्दते या· ।
महेम चन्द्रांशुदृशावदाता-
स्तास्तर्कपुण्या जगदीश वाच: ॥३०॥

हे जगदीश ! अज्ञान रूपी अंधकार मे भटकने वाले पुरुषो को जो वाणी आप अगोचर हो बनाती है, उन चन्द्रमा की किरणों के समान स्वच्छ एवं तर्क से पवित्र आपकी वाणी की हम पूजा करते हैं। (३०)

यत्र तत्र समये यथा तथा,
योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया ।
वीतदोषकलुषः स चेद्भवा-
नेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते ॥३१॥

हे भगवन् ! जिस किसी शास्त्र मे, जिस किसी प्रकार से और जिस किसी नाम से राग-द्वेप रहित देव का वर्णन किया गया हे वह आप एक ही हैं। अत. आपको हमारा नमस्कार है। (३१)

[उपसंहारकाव्यम्]

इद श्रद्धामात्रं तदथ परनिन्दा मृदुधियो,
विगाहन्तां हन्त ! प्रकृतिपरवादव्यसनिनः ।
अरक्तद्विष्टानां जिनवर ! परीक्षाक्षमधिया—
मय तत्त्वालोकः स्तुतिमयमुपाधिं विधृतवान् ॥३२॥

चाहे मृदु बुद्धि वाले मनुष्य इस स्तोत्र को श्रद्धा से रचित समझे और स्वभाव से ही पर-निन्दा के व्यसनी वादी पुरुष चाहे इसे अन्य देवो की निन्दा के लिये रचित माने, परन्तु हे जिनवर ! परीक्षा करने मे समर्थ बुद्धि वाले एव राग-द्वेप से रहित पुरुपो को तत्त्वो को प्रकट करने वाला यह स्तोत्र स्तुति स्वरूप एव धर्म चिन्तन मे कारण स्वरूप है। (३२)

कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य रचित

* अन्ययोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका *

अनन्तविज्ञानमतीतदोष-
मबाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम् ।
श्रीवर्धमान जिनमाप्तमुख्य,
स्वयम्भुव स्तोतुमह यतिष्ये ।।१।।

अनन्त ज्ञानी, दोष रहित, अबाध्य सिद्धान्तो से युक्त, देवताओ द्वारा पूजनीय, यथार्थ वक्ताओ मे प्रधान एव स्वयभू श्री वर्धमान स्वामी की स्तुति करने का मैं प्रयत्न करू गा (१)

अय जनो नाथ ! तव स्तवाय,
गुणान्तरेभ्यः स्पृहयालुरेव ।
विगाहता किन्तु यथार्थवाद-
मेक परोक्षाविधिर्दुर्विदग्धः ।।२।।

हे नाथ ! परीक्षा करने मे स्वय को पण्डित मानने वाला मैं आपके अन्य गुणो के प्रति श्रद्धालु होते हुए भी आपके स्तवन के लिये आपके यथार्थवाद नामक गुण का अवगाहन करता हूँ। (२)

गुणेष्वसूया दधत. परेऽमी,
मा शिश्रियन्नाम भवन्तमीशम् ।
तथापि सम्मील्य विलोचनानि,
विचारयन्ता नयवर्त्म सत्यम् ।।३।।

हे नाथ ! यद्यपि आपके गुणो की ईर्ष्या करने वाले अन्य मनुष्य आपको स्वामी नही मानते, फिर भी वे सत्य न्याय मार्ग का नेत्रोन्मीलन करके विचार करें। (३)

स्वतोऽनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजो,
भावा न भावान्तरनेयरूपाः ।
परात्मतत्त्वादतथात्मतत्त्वाद्,
द्वय वदन्तोऽकुशलाः स्खलन्ति ।।४।।

पदार्थ स्वभाव से ही सामान्य एव विशेप रूप है। उनमे सामान्य विशेष की प्रतीति कराने के लिये पदार्थान्तर मानने की आवश्यकता नही है। जो अकुशलवादी पररूप एव मिथ्यारूप, सामान्य विशेष को पदार्थ से भिन्न रूप मे बताते है वे न्याय-मार्ग से च्युत होते है। (४)

आदीपमाव्योम समस्वभावं,
स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु ।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्य-
दिति त्वदाज्ञाद्विषता प्रलापाः ।।५।।

दीपक से लगा कर आकाश तक समस्त पदार्थ नित्य अनित्य स्वभाव युक्त है, क्योकि कोई भी पदार्थ स्याद्वाद की मर्यादा का उल्लघन नही करता। ऐसी वस्तु-स्थिति मे भी आपके विरोधी, दीपक आदि को सर्वथा अनित्य एव आकाश आदि को सर्वथा नित्य मानते है, जो प्रलाप स्वरूप है। (५)

कर्त्तास्ति कश्चिद् जगतः स चैकः,
स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः ।
इमाः कुहेवाकविडम्बना स्यु-
स्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ।।५।।

हे नाथ ! जगत का कोई कर्त्ता है, वह एक है, वह सर्वव्यापी है, वह स्वतन्त्र है और वह नित्य है। ये दुराग्रहपूर्ण विडम्बनाएँ उन्ही के लगी हुई हैं, जिनके आप अनुशासक नही है। (६)

न धर्मधर्मित्वमतीवमेदे,
वृत्त्यास्ति चेन्न त्रितयं चकास्ति ।
इहेदमित्यस्ति मतिश्च वृत्तौ,
न गौणभेदोऽपि च लोकबाधः ।।७।।

धर्म एव धर्मी को सर्वथा भिन्न मानने से उनका सम्बन्ध नही हो सकता। यदि कोई कहे कि समवाय सम्बन्ध से परस्पर भिन्न धर्म एव धर्मी का सम्बन्ध होता है तो यह अनुचित है, क्योकि जिस प्रकार धर्म और धर्मी

इस लोक मे छल, जाति एव निग्रह-स्थान का उपदेश देकर दूसरो के निर्दोष हेतुओ का खण्डन करने का उपदेश देने वाले गौतम मुनि को भी विरक्त एव कारुणिक माना जाता है। (१०)

न धर्महेतुर्विहितापि हिसा,
नोत्सृष्टमन्यार्थमपोद्यते च।
स्वपुत्रघातान्नृपतित्वलिप्सा–
सब्रह्मचारिस्फुरित परेषाम् ॥११॥

वेद-विहित हिसा धर्म का कारण नही है। अन्य अर्थ के लिए वताया गया उत्सर्ग अन्य अर्थ के लिए अपवाद नही वन सकता। फिर भी अन्य लोगो का उस प्रकार मानना, अपने पुत्र का वध करके राजा वनने की इच्छा के समान है। (११)

स्वार्थावबोधक्षम एव बोधः,
प्रकाशते नार्थकथान्यथा तु।
परे परेभ्यो भयतस्तथापि,
प्रपेदिरे ज्ञानमनात्मनिष्ठम् ॥१२॥

ज्ञान स्वय को और अन्य पदार्थो को भी जान सकता है, अन्यथा किसी भी पदार्थ का ज्ञान नही हो सकता, फिर भी अन्य वादियो के भय से अन्य मतावलम्बियो ने ज्ञान को अनात्म-निष्ठ-स्वसवेदन रहित स्वीकार किया है। (१२)

माया सती चेद् द्वयतत्त्वसिद्धि–
रथासती हन्त कुतः प्रपंच।
मायेव चेदर्थसहा च तत्किं,
माता च वन्ध्या च भवत्परेषाम् ॥१३॥

यदि माया सत् रूप है तो ब्रह्म एव माया दोनो पदार्थों की सिद्धि होती है—अद्वैत की सिद्धि नही हो सकती। यदि माया असत् है तो तीन लोको के पदार्थो की उत्पत्ति नही हो सकती। यदि यह कहे कि माया है और अर्थ क्रिया भी करती है, तो एक ही स्त्री माता है और वन्ध्या (बाँझ) भी है, क्या आपके विरोधियो का कथन इस प्रकार का सिद्ध नही होता? (१३)

अनेकमेकात्मकमेव वाच्यं,
द्वयात्मकं वाचकमप्यवश्यम् ।
अतोऽन्यथा वाचकवाच्यक्लृप्ता-
वतावकाना प्रतिभाप्रमादः ।।१४।।

जिस प्रकार समस्त पदार्थ अनेक होते हुए भी एक है, उसी प्रकार से उन पदार्थों को बताने वाले शब्द भी द्वयात्मक-एक एव अनेक स्वरूप हैं। आपके सिद्धान्त को नही मानने वाले और वाच्य एव वाचक सम्बन्धी उससे विपरीत कल्पना करने वाले प्रतिवादी बुद्धि मे प्रमाद भाव धारण करने वाले हैं। (१४)

चिदर्थशून्या च जडा च बुद्धिः,
शब्दादितन्मात्रजमम्बरादि ।
न बन्धमोक्षौ पुरुषस्य चेति,
कियज्जडैर्न ग्रथित निरोधि ।।१५।।

चेतना स्वय पदार्थों को नही जानती। बुद्धि जड स्वरूप है। शब्द से आकाश, गध से पृथ्वी, रस से जल, रूप से अग्नि और स्पर्श से वायु उत्पन्न होती है तथा बध अथवा मोक्ष पुरुष को नही होता, ऐसी कितनी विपरीत कल्पना जड मनुष्यो ने नही की ? (१५)

न तुल्यकालः फलहेतुभावो,
हेतौ विलीने न फलस्य भाव ।
न सविदद्वैतपथेऽर्थसविद्,
विलूनशीर्णं सुगतेन्द्रजालम् ।।१६।।

कार्य एव कारण दोनो साथ नही रह सकते। कारण का नाश होने पर भी फल की उत्पत्ति नही हो सकती। जगत् को यदि विज्ञान स्वरूप माना जाये तो पदार्थों का ज्ञान नही हो सकता। इस प्रकार बुद्ध का इन्द्रजाल भी विलीन हो जाता है। (१६)

विना प्रमाण परवन्न शून्य·,
स्वपक्षसिद्धे· पदमश्नुवीत ।
कुप्येत्कृतान्तः स्पृशते प्रमाण-
महो सुदृष्ट त्वदसूयिदृष्टम् ।।१७।।

शून्यवादी प्रमाण के बिना अन्यवादियो की तरह अपना मत सिद्ध नही कर सकता। यदि वह किसी प्रमाण को माने तो स्वय द्वारा मान्य

शून्यता का सिद्धान्त, कृतान्त की तरह कुपित होता है। हे भगवन् ! आपके मत के ईर्षालु मनुष्यो ने कुमति ज्ञान रूपी नेत्रो से जो कुछ जाना है, वह मिथ्या होने के कारण उपहासास्पद है। (१७)

कृतप्रणाशाकृतकर्मभोग-
भवप्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान् ।
उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभङ्गमिच्छ-
न्नहो महासाहसिकः परस्ते ॥१८॥

आपके प्रतिपक्षी क्षणिकवादी, बौद्ध क्षणिकवाद को स्वीकार करके अकृतकर्म-भोगदोष, कृतप्रणाश-दोष, भव-भग-दोष, मुक्ति-भग-दोष और स्मरण-भग-दोष आदि अनुभव सिद्ध दोषो की उपेक्षा करके अपना मत स्थापित करने के लिये अत्यन्त साहस करते है, यह सचमुच आश्चर्य है। (१८)

सा वासना सा क्षणसन्ततिश्च,
नाभेदभेदानुभयैर्घटेते ।
ततस्तटादर्शिशकुन्तपोत-
न्यायात्त्वदुक्तानि परे श्रयन्तु ॥१९॥

वासना एव क्षण सन्तति, परस्पर भिन्न, अभिन्न एव अनुभव, इन तीन भेदो मे से किसी भी भेद से सिद्ध नही होती। जिस प्रकार समुद्र में जहाज से उडा पक्षी समुद्र का किनारा नही दिखाई पडने से पुन जहाज पर ही आ बैठता है, उसी प्रकार से उपायान्तर नही होने से बौद्ध लोग अन्त मे आपके ही सिद्धान्त का आश्रय लेते है। (१९)

विनानुमानेन पराभिसन्धि-
मसंविदानस्य तु नास्तिकस्य ।
न साम्प्रत वक्तुमपि क्व चेष्टा,
क्व दृष्टमात्रं च हहा ! प्रमादः ॥२०॥

बिना अनुमान के अन्य व्यक्तियो का अभिप्राय नही समझ सकने वाले चार्वाक लोगो को बोलने की चेष्टा करना उचित नही है। कहा चेष्टा और कहा प्रत्यक्ष ? इन दोनो के मध्य अत्यन्त अन्तर है। इसे नही समझने वालो का कैसा प्रमाद है ? (२०)

प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगि–
स्थिरैकमध्यक्षमपीक्षमाणः ।
जिन ! त्वदाज्ञामवमन्यते यः,
स वातकी नाथ ! पिशाचकी वा ।।२१।।

हे नाथ ! प्रत्येक क्षण उत्पन्न होने वाले, नष्ट होने वाले तथा स्थिर रहने वाले पदार्थों को देख कर भी हे जिन ! जो लोग आपकी आज्ञा की अवहेलना करते हैं वे वायु अथवा पिशाच से ग्रस्त है । (२१)

अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्व–
मतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम् ।
इति प्रमाणान्यपि ते कुवादि–
कुरङ्गसत्रासनसिंहनादाः ।।२२।।

प्रत्येक पदार्थ मे अनन्त धर्म हैं—यह नही मानने से वस्तु की सिद्धि नही हो सकती । इस प्रकार आपके प्रमाण-भूत वाक्य कुवादी रूपी मृगो मे भय (त्रास) उत्पन्न करने के लिये सिंह की गर्जना के समान हैं । (२२)

अपर्ययं वस्तु समस्यमान–
मद्रव्यमेतच्च विविच्यमानम् ।
आदेशभेदोदितसप्तभङ्ग–
मदीदृशस्त्व बुधरूपवेद्यम् ।।२३।।

यदि वस्तु का सामान्यतया कथन किया जाये तो प्रत्येक वस्तु पर्याय रहित है । यदि वस्तु की विस्तारपूर्वक प्ररूपणा की जाये तो प्रत्येक वस्तु द्रव्य रहित है । इस प्रकार सकलादेश और विकलादेश के भेद से पडित लोग समझ सकें वैसे सात भगो की आपने प्ररूपणा की है । (२३)

उपाधिभेदोपहितं विरुद्ध,
नार्थेष्वसत्त्व सदवाच्यते च ।
इत्यप्रबुध्यैव विरोधभीता,
जडास्तदेकान्तहताः पतन्ति ।।२४।।

प्रत्येक पदार्थ मे अस्तित्व, नास्तित्व एव अवक्तव्यत्व रूप परस्पर विरुद्ध धर्मों का प्रतिपादन अपेक्षा भेद से विरुद्ध नही है । विरोध से भयभीत बने एकान्तवादी मूर्ख लोग इस सिद्धान्त को नही समझने के कारण ही न्याय-मार्ग से पतित होते हैं । (२४)

स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं,
वाच्यं न वाच्य सदसत्तदेव ।
विपश्चितां नाथ ! निपीततत्त्व–
सुधोद्गतोद्गारपरम्परेयम् ॥२५॥

हे विद्वान्-शिरोमणि ! प्रत्येक वस्तु किसी अपेक्षा से अनित्य है, किसी अपेक्षा से नित्य है, किसी अपेक्षा से सामान्य है, किसी अपेक्षा से विशेष है, किसी अपेक्षा से वाच्य है, किसी अपेक्षा से अवाच्य है, किसी अपेक्षा से सत् है और किसी अपेक्षा से असत् है । अनेकान्त-तत्व रूपी अमृत के पान से निकली हुई यह उद्गारो की परम्परा है । (२५)

य एव दोषाः किल नित्यवादे,
विनाशवादेऽपि समास्त एव ।
परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु,
जयत्यधृष्य जिन ! शासनं ते ॥२६॥

वस्तु को सर्वथा नित्य मानने मे जो दोष आते है, वे ही दोष सर्वथा अनित्य मानने में भी आते है । जिस प्रकार एक काटा (शूल) दूसरे काटे का नाश करता है, उसी प्रकार से नित्यवादियो और अनित्यवादियो के पारस्परिक दूषण बता कर एक दूसरे का निराकरण करने पर भी हे जिन ! आपका अधृष्य शासन बिना परिश्रम के विजय प्राप्त करता है । (२६)

नैकान्तवादे सुखदुःखभोगौ,
न पुण्यपापे न च बन्धमोक्षौ ।
दुर्नीतिवादव्यसनासिनैव,
परैर्विलुप्तं जगदप्यशेषम् ॥२७॥

एकान्तवाद मे सुख-दु ख का उपभोग घट नही सकता और पुण्य-पाप तथा बध-मोक्ष की व्यवस्था भी नही घट सकती । सचमुच, एकान्त-वादी लोगो ने दुर्नयवाद मे आसक्ति रूपी खड्ग से सम्पूर्ण विश्व का नाश किया है । (२७)

सदेव सत् स्यात्सदिति त्रिधार्थो,
मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः ।
यथार्थदर्शी तु नयप्रमाण–
पथेन दुर्नीतिपथं त्वमास्थः ॥२८॥

पदार्थ सर्वदा सत् तथा कथचित् सत् है। इस प्रकार पदार्थों का ज्ञान क्रमश दुर्नय, नय एव प्रमाण मार्ग के द्वारा होता है, किन्तु हे भगवन् ! आप यथार्थदर्शी ने नय मार्ग एव प्रमाण मार्ग के द्वारा दुर्नय-वाद का निराकरण किया है। (२८)

मुक्तोऽपि वाभ्येतु भव भवो वा,
भवस्थशून्योऽस्तु मितात्मवादे ।
षड्जीवकाय त्वमनन्तसख्य-
माख्यस्तथा नाथ ! यथा न दोषः ॥२९॥

जो मनुष्य जीवो को अनन्त न मान कर परिमित सख्या मे मानते हैं उनके मतानुसार मुक्त जीवो को पुन ससार मे जन्म धारण करना चाहिये अथवा यह ससार एक दिन जीव-विहीन हो जाना चाहिये, परन्तु हे भगवन् ! आपने छ काय के जीवो को उस प्रकार अनन्त सख्या युक्त प्ररूपित किया है जिससे आपके मत मे उपर्युक्त दोष नही आ सकता। (२९)

अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद्,
यथा परे मत्सरिणः प्रवादा ।
नयानशेषानविशेषमिच्छन्,
न पक्षपाती समयस्तथा ते ॥३०॥

अन्य वादी जिस प्रकार परस्पर पक्ष एव प्रतिपक्ष भाव रखने से एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या रखते है, उस प्रकार से समस्त नयो को समान मानने वाले आपके शास्त्रो मे किसी का भी पक्षपात नही है। (३०)

वाग्वैभव ते निखिल विवेक्तु-
माशास्महे चेन्महनीयमुख्य ! ।
लङ्घेम जङ्घालतया समुद्र,
वहेम चन्द्रद्युतिपानतृष्णाम् ॥३१॥

हे पूज्य शिरोमणि ! आपकी वाणी के वैभव का पूर्णरूपेण विवेचन करने की आशा रखना हम जैसो के लिए जघा-बल से समुद्र लाघने की आशा करने के समान है अथवा चन्द्रमा की चादनी को पान करने की तृष्णा के समान है। (३१)

(उपसंहारकाव्यम्)

इदं तत्त्वातत्त्वव्यतिकरकरालेऽन्धतमसे,
जगन्मायाकारैरिव हतपरैर्हा विनिहितम् ।
तदुद्धर्तुं शक्तो नियतमविसंवादिवचन-
स्त्वमेवातस्त्रातस्त्वयि कृतसपर्याः कृतधियः ॥३२॥

इन्द्रजालियो की तरह अधम पर-दार्शनिको ने इस जगत को तत्त्व और अतत्त्व के व्यतिकर मिश्रण से विकराल गहन अन्धकार मे डाल दिया है। आप ही इस जगत् का उद्धार करने मे समर्थ हैं, क्योकि आपके वचन विसवाद-रहित है। हे जगत रक्षक ! बुद्धिमान मनुष्य इस कारण आपकी ही सेवा करते हैं। (३२)

□ □ □

कलिकालसर्वज्ञ-श्रीहेमचन्द्राचार्यचरणकजचञ्चरीक-

परमार्हत्-श्रीकुमारपालम् भूपाल रचितम्

❀ साधारणजिनस्तवनम् ❀

नम्राखिलाखण्डलमौलिरत्न-
रश्मिच्छटापल्लविताह्रि पीठ !
विध्वस्तविश्वव्यसनप्रबन्ध !
त्रिलोकबन्धो जयताज्जिनेन्द्र ! ॥१॥

समस्त विनीत इन्द्रो के मुकुटो पर विद्यमान रत्नो की किरणो से कान्तिमय बने पाद-पीठ वाले और जिन्होने जगत् के दु ख समूह को नष्ट किया है ऐसे तीन लोको के वन्धु हे जिनेन्द्र ! आपकी जय हो। (१)

मूढोऽस्म्यह विज्ञपयामि यत्त्वा-
मुपेतरागं भगवन् ! कृतार्थम् ।
न हि प्रभूणामुचितस्वरूप-
निरूपणाय क्षमतेऽर्थिवर्ग ॥२॥

हे भगवन् ! मैं बुद्धिहीन, राग-रहित एव कृतार्थ आपको विज्ञप्ति करता हूँ कि सचमुच स्वामी के उचित स्वरूप का निरूपण करने मे सेवक समर्थ नही होता है। (२)

मुक्ति गतोऽपीश ! विशुद्धचित्ते,
गुणाधिरोपेण ममासि साक्षात् ।
भानुर्दवीयानपि दर्पणेऽशु-
सङ्गान्न किं द्योतयते गृहान्त· ? ॥३॥

हे स्वामी ! आप मोक्ष मे है फिर भी मेरे निर्मल चित्त मे आपके गुणो का आरोप करने से आप साक्षात् मेरे समक्ष है। अत्यन्त दूरस्थ सूर्य दर्पण मे किरणो के सग से क्या घर के भीतर प्रकाश नही फैलाता ? (३)

तव स्तवेन क्षयमङ्गभाजां,
भजन्ति जन्मार्जितपातकानि ।
कियच्चिरं चण्डरुचेर्मरीचि-
स्तोमे तमांसि स्थितिमुद्वहन्ति ? ॥४॥

आपके स्तवन से प्राणियो के अनेक भवो के सचित पापो का क्षय होता है। सूर्य की किरणो के समक्ष अधकार भला कब तक ठहर सकता है ? (४)

शरण्य ! कारुण्यपरः परेषां,
निहंसि मोहज्वरमाश्रितानाम् ।
मम त्वदाज्ञां वहतोऽपि मूर्ध्ना,
शान्ति न यात्येष कुतोऽपि हेतोः ? ॥५॥

हे शरण ग्रहण करने योग्य प्रभु ! आप दयालु आपके शरणागतो का मोह-ज्वर नष्ट करते हैं, परन्तु आपकी आज्ञा सिरोधार्य करने वाले मेरे इस मोह-ज्वर का, पता नही क्यो शमन नही होता ? (५)

भवाटवीलङ्घनसार्थवाह,
त्वामाश्रितो मुक्तिमह यियासुः ।
कषायचोरैर्जिन ! लुप्यमान,
रत्नत्रयं मे तदुपेक्षसे किम् ? ॥६॥

मुक्ति-अभिलाषा मे भव-वन को पार करने मे सार्थवाह तुल्य आपके आश्रय मे हूँ, तो भी हे जिनेश्वर ! कषाय रूपी चोरो के द्वारा चुराये जाते मेरे अमूल्य त्रिरत्नो की आप उपेक्षा क्यो करते है ? (६)

लब्धोऽसि स त्वं मयका महात्मा,
भवाम्बुधौ बम्भ्रमता कथञ्चित् ।
आः पापपिण्डेन नतो न भक्त्या,
न पूजितो नाथ ! न तु स्तुतोऽसि ॥७॥

भव-सागर मे भटकते हुए मुझे किसी प्रकार से अत्यन्त ही कठिनाई से आप महात्मा मिल पाये है, परन्तु मुझे खेद तो इस बात का है कि मुझ पाप-पिण्ड ने भक्ति पूर्वक हे नाथ ! न तो आपको नमन किया, न आपकी पूजा-अर्चना की और न स्तुति की। (७)

संसारचक्रे भ्रमयन् कुबोध-
दण्डेन मा कर्ममहाकुलाल ।
करोति दुःखप्रचयस्थ भाण्ड,
तत प्रभो ! रक्ष जगच्छरण्य ! ॥८॥

इस ससार चक्र मे कर्म रूपी महान् कुम्भकार कुबोध रूपी डण्डे से घुमाता हुआ मुझे दु ख के समूह का भाजन बनाता है। अत हे प्रभु ! हे जगत् के शरणभूत ! आप मेरी रक्षा करे। (८)

कदा त्वदाज्ञाकरणाप्ततत्त्व-
स्त्यक्त्वा ममत्वादि भवैककन्दम् ।
आत्मैकसारो निरपेक्षवृत्ति-
र्मोक्षेऽप्यनिच्छो भवितास्मि नाथ ! ॥९॥

हे नाथ ! आपकी आज्ञा का पालन करने से मुझे तत्त्व प्राप्त होने के कारण मैं इस ससार का मूल कारण स्वरूप ममता आदि का त्याग करके, आत्मा को ही तत्त्व मान कर ससार मे निरपेक्ष व्यवहार युक्त तथा मोक्ष की भी इच्छा से रहित कब बनूगा ? (९)

तव त्रियामापतिकान्तिकान्तै-
र्गुणैर्नियम्यात्ममन प्लवङ्गम् ।
कदा त्वदाज्ञाऽमृतपानलोल,
स्वामिन् ! परब्रह्मरतिं करिष्ये ? ॥१०॥

हे स्वामी ! आपके चन्द्रमा की चाँदनी (कान्ति) के समान मनोहर गुण रूपी डोरी के द्वारा मेरे मन रूपी बन्दर को बाँध कर आपकी आज्ञा रूपी अमृत के पान में लीन बना मैं कब आत्म-स्वरूप मे आनन्द-मग्न होऊँगा ? (१०)

एतावतीं भूमिमह त्वदङ्घ्रि-
पद्मप्रसादाद् गतवानधीशम् !
हठेन पापास्तदपि स्मराद्या,
ही मामकार्येषु नियोजयन्ति ॥११॥

हे स्वामी ! आपके चरण-कमलो की कृपा से मैंने इतना उच्च स्थान प्राप्त किया है, फिर भी खेद की बात यह है कि बलात्कार पूर्वक काम-

विकार आदि पाप कर्म मुझे अकरणीय प्रवृत्तियो में अत्यन्त लगा देते हैं। (११)

भद्रं न किं त्वय्यपि नाथनाथे,
सम्भाव्यते मे यदपि स्मराद्याः ।
अपाक्रियन्ते शुभभावनाभिः,
पृष्ठं न मुञ्चन्ति तथापि पापाः ।।१२।।

आपके तुल्य स्वामी के होने से मेरे लिए समस्त कल्याण सभव हैं। यद्यपि शुभ भावनाओ के द्वारा काम-विकार आदि शत्रु दूर हटाये जाते है, फिर भी वे पापी मेरा आँचल नही छोडते। (१२)

भवाम्बुराशौ भ्रमतः कदापि,
मन्ये न मे लोचनगोचरोऽभूः ।
निस्सीमसीमन्तकनारकादि-
दुःखातिथित्वं कथमन्यथेश ! ।।१३।।

हे ईश ! मैं यह मानता हूँ कि भव-सागर मे परिभ्रमण करते मुझे आपके दर्शन कदापि नही हुए, अन्यथा असीम दु खो की खान स्वरूप सीमतक नारकीय दुःखो आदि का भोक्ता मैं कैसे होता ? (१३)

चक्रासिचापाङ्कुशवज्रमुख्यैः,
सल्लक्षणैर्लक्षितमंह्रियुग्मम् ।
नाथ ! त्वदीयं शरणं गतोऽस्मि,
दुर्वारमोहादिविपक्षभीतः ।।१४।।

हे नाथ ! दु ख से निवारण किए जा सके ऐसे मोह आदि शत्रुओ से भयभीत बना मैं चक्र, तलवार, धनुष, वज्र आदि प्रमुख शुभ लक्षणो से अलकृत आपके चरण-युगलो की शरण मे आया हुआ हूँ। (१४)

अगण्यकारुण्य ! शरण्य ! पुण्य !
सर्वज्ञ ! निष्कण्टक ! विश्वनाथ !
दीनं हताशं शरणागतं च,
मां रक्ष रक्ष स्मरभिल्लभल्लैः ।।१५।।

हे अगणित करुणानिधान ! हे शरण लेने योग्य ! हे पवित्र ! हे सर्वज्ञ ! हे निष्कण्टक ! हे जगन्नाथ ! मुझ दीन, हताश, एव शरणागत की काम-देव रूपी भील के भालो से रक्षा करो, रक्षा करो। (१५)

त्वया विना दुष्कृतचक्रवालं,
नान्यः क्षय नेतुमल ममेश !
को वा विपक्षप्रतिचक्रमूल,
चक्र विना छेत्तुमल भविष्णु ? ॥१६॥

हे स्वामी ! आपके अतिरिक्त मेरे पाप-समूह को क्षय करने मे अन्य कौन समर्थ है ? अथवा शत्रु-सेना का मूलोच्छेदन करने के लिए चक्र के अतिरिक्त कौन समर्थ हो सकता है ? (१६)

यद् देवदेवोऽसि महेश्वरोऽसि,
बुद्धोऽसि विश्वत्रयनायकोऽसि ।
तेनान्तरङ्गारिगणाभिभूत-
स्तवाग्रतो रोदिमि हा सखेदम् ॥१७॥

जिन कारणो के लिए आप देवाधिदेव हैं, महेश्वर है, बुद्ध हैं, तीनो लोको के नायक हैं और मैं अन्तरग शत्रुओ से पराजित हो चुका हूँ, इस कारण आपके समक्ष मैं खेद सहित रुदन करता हूँ । (१७)

स्वामिन्नधर्म्मव्यसनानि हित्वा,
मनः समाधौ निदधामि यावत् ।
तावत्क्रुधेवान्तरवैरिणो मा-
मनल्पमोहान्ध्यवश नयन्ति ॥१८॥

हे स्वामी ! जब तक अधर्मों एव व्यसनो का परित्याग करके मैं अपने मन को समाधि मे स्थापित करता हूँ उतने मे तो क्रोध से ही मानो मेरे अन्तरग शत्रु मुझे मोहान्ध कर देते है। (१८)

त्वदागमाद्विद्धि सदैव देव !
मोहादयो यन्मम वैरिणोऽमी ।
तथापि मूढस्य पराप्तबुद्ध्या,
तत्सन्निधौ ही न किमप्यकृत्यम् ॥१९॥

हे देव ! आपके आगमो के द्वारा मैं सदा मोह आदि को अपना शत्रु समझता हूँ, परन्तु मुझ मूर्ख को शत्रु मे उत्कृष्ट विश्वास हुआ है, जिससे मोह आदि के समीप रह कर मुझ से कौनसा कुकृत्य नही होगा ? अर्थात् मोह आदि के कारण पुद्गल मे विश्वास अथवा पुद्गल मे अपनत्व की

भावना से मूढ बने मेरे लिए कोई भी कार्य अकरणीय नही रहा, यह खेद की बात है। (१९)

म्लेच्छैर्नृशसैरतिराक्षसैश्च,
विडम्बितोऽमीभिरनेकशोऽहम् ।
प्राप्तस्त्विदानीं भुवनैकवीर !
त्रायस्व मा यत्तव पादलीनम् ॥२०॥

म्लेच्छ, निर्दयी तथा राक्षसो को भी मात करने वाले इन काम-क्रोध आदि के द्वारा मैं अनेक बार दु ख प्राप्त कर चुका हूँ। हे लोक मे वीर परमात्मा ! अब मैंने आपको प्राप्त किया है। मैं आपके चरणो मे लीन हूँ। आप मेरी रक्षा करे। (२०)

हित्वा स्वदेहेऽपि ममत्वबुद्धि,
श्रद्धापवित्रीकृतसद्विवेकः ।
मुक्तान्यसङ्गः समशत्रुमित्रः,
स्वामिन् ! कदा सयममातनिष्ये ॥२१॥

हे स्वामी ! अपने देह के प्रति भी ममत्व का त्याग करके, श्रद्धा सहित पवित्र अन्तःकरण युक्त होकर, हृदय मे शुद्ध विवेक–हेय आदि का विभाग करके, अन्य सभी की सगति का परित्याग करके तथा शत्रु एव मित्र को समान समझ कर मैं कब सयम ग्रहण कर सकूँगा ? (२१)

त्वमेव देवो मम वीतराग !
धर्मो भवद्दर्शितधर्म एव ।
इति स्वरूपं परिभाव्य तस्मान्,
नोपेक्षणीयो भवति स्वभृत्यः ॥२२॥

हे वीतराग ! आप ही मेरे देव है और आप द्वारा प्ररूपित धर्म ही मेरा धर्म है। इस प्रकार मेरे स्वरूप का विचार करके आपको मुझ सेवक की ऐसी उपेक्षा करना उचित नही है। (२२)

जिता जिताशेषसुरासुराद्याः,
कामादयः काममभी त्वयेश !
त्वां प्रत्यशक्तास्तव सेवकं तु,
निघ्नन्ति ही मां परुषं रुषैव ॥२३॥

हे ईश ! ये काम आदि, समस्त देव-दानवो के विजेता हैं। इन्हे आपने सर्वथा जीत लिया है, परन्तु आपको जीतने मे असमर्थ वे काम आदि मानो क्रोध से ही मुझ सेवक का निर्दयता से सहार करते हैं, यह खेद की बात है। (२३)

सामर्थ्यमेतद् भवतोऽस्ति सिद्धि,
सत्त्वानशेषानपि नेतुमीश !
क्रियाविहीन भवदह्लिलीन
दीन न किं रक्षसि मा शरण्य ॥२४॥

हे ईश ! समस्त प्राणियो को मुक्ति मे ले जाने का आपका सामर्थ्य है, तो फिर मुझ क्रियाविहीन, दीन एव आपके चरणो मे लीन को आप क्यो नही बचाते ? (२४)

त्वत्पादपद्मद्वितय जिनेन्द्र !
स्फुरत्यजस्त्र हृदि यस्य पु स ।
विश्वजयो श्रीरपि नूनमेति,
तत्राश्रयार्थं सहचारिणीव ॥२५॥

हे जिनेन्द्र ! जिस पुरुष के अन्त करण मे आपके चरण-कमल-युगल सदा स्फुरायमान हैं, वहाँ निश्चय ही तीनो लोको की लक्ष्मी सहचारिणी की तरह आश्रय ग्रहण करने के लिए आती है। (२५)

अह प्रभो ! निर्गुणचक्रवर्ती,
क्रूरो दुरात्मा हतकः सपाप्मा ।
हो दु'खराशौ भववारिराशौ,
यस्मान्निमग्नोऽस्मि भवद्विमुक्तः ॥२६॥

हे प्रभो ! मैं निर्गुणियो मे चक्रवर्ती हूँ, क्रूर हूँ, दुरात्मा हूँ, हिंसक हूँ और पापी हूँ, जिस कारण से मैं आपसे अलग होकर दु ख की खान तुल्य भव-सागर मे डूब गया हूँ, यह खेद की बात है। (२६)

स्वामिन्निमग्नोऽस्मि सुधासमुद्रे,
यन्नेत्रपात्रातिथिरद्य मेऽभू ।
चिन्तामणौ स्फूर्जति पाणिपद्मे,
पुंसामसाध्यो न हि कश्चिदर्थ ॥२७॥

न्यायाचार्य-न्यायविशारद-महोपाध्याय
श्रीयशोविजय-रचिता

❀ परमज्योतिः पञ्चविंशतिका ❀

ऐन्द्र तत्परम ज्योतिरुपाधिरहित स्तुम ।
उदिते स्युर्यदशेऽपि, सन्निधौ निधयो नव ।।१।।

कर्म-उपाधि-रहित आत्मा के सम्बन्ध में हम उस परम ज्योति की स्तुति करते हैं जिसके अश मात्र के उदय से नौ निधियाँ प्रकट होती है। (१)

प्रभा चन्द्राऽकभादीना, मितक्षेत्रप्रकाशिका ।
आत्मानस्तु पर ज्योति -र्लोकालोकप्रकाशम् ।।२।।

चाद, सूर्य एव नक्षत्रो आदि की प्रभा सीमित क्षेत्र को प्रकाशित करने वाली है, जबकि आत्मा की परम ज्योति लोक-अलोक को प्रकाशित करने वाली है। (२)

निरालम्बं निराकारं, निर्विकल्प निरामयम् ।
आत्मनः परम ज्योति, -र्निरुपाधि-निरंजनम् ।।३।।

आत्मा की परम ज्योति आलम्बन रहित, आकार रहित, विकल्प रहित, रोग रहित, उपाधि रहित एव मल रहित है। (३)

दीपादिपुद्गलापेक्ष, समल ज्योतिरक्षजम् ।
निर्मल केवलं ज्योति -र्निरपेक्षमतोन्द्रियम् ।।४।।

इन्द्रियो से उत्पन्न ज्योति दीपक आदि पुद्गलो की अपेक्षा रखने वाली और मल युक्त है। अतीन्द्रिय केवल ज्योति निरपेक्ष एव निर्मल है। (४)

कर्मनोकर्मभावेषु, जागरूकेष्वपि प्रभुः ।
तमसानावृतः साक्षी, स्फुरति ज्योतिषा स्वयम् ।।५।।

जागरूक कर्म तथा नोकर्म जनित भावो के सम्बन्ध मे अज्ञान-अधकार से अनावृत्त स्वय साक्षी स्वरूप प्रभु आत्म-ज्योति के द्वारा स्फुरायमान होता है। (५)

परमज्योतिषः स्पर्शादपरं ज्योतिरेधते ।
यथा सूर्यकरस्पर्शात्, सूर्यकान्तस्थितोऽनलः ।।६।।

सूर्य की किरणो के स्पर्श से सूर्यकान्तमणि मे निहित अग्नि की जिस प्रकार वृद्धि होती है, उसी प्रकार से परम ज्योति के स्पर्श से अपरम ज्योति की वृद्धि होती है। (६)

पश्यन्नपरम ज्योतिर्विवेकाद्रेः पतत्यधः ।
परम ज्योतिरन्विच्छन्नाऽविवेके निमज्जति ।।७।।

अपरम ज्योति का दर्शक विवेक रूपी पर्वत से नीचे गिरता है, परम ज्योति का अभिलाषी अविवेक मे नही डूबता। (७)

तस्मै विश्वप्रकाशाय, परमज्योतिषे नमः ।
केवलं नैव तमसः, प्रकाशादपि यत्परम् ।।८।।

विश्व का प्रकाश करने वाली उस परम ज्योति को नमस्कार है कि जो केवल अधकार से ही परे नही है, किन्तु प्रकाश से भी परे है। (८)

ज्ञानदर्शनसम्यक्त्व –चारित्रसुखवीर्यभूः ।
परमात्मप्रकाशो मे, सर्वोत्तमकलामयः ।।९।।

ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, सुख और वीर्य की भूमि तुल्य मेरा परमात्म प्रकाश सर्वोत्तम कलामय है। (९)

या विना निष्फलाः सर्वाः, कला गुणबलाधिका ।
आत्मधामकलामेका, ता वयं समुपास्महे ।।१०।।

गुण एव बल से अधिक समस्त कलाये जिसके बिना निष्फल हैं, उस आत्म-ज्योति स्वरूप एक ही कला की हम उपासना करते है। (१०)

निधिभिर्नवभीरत्नै –श्चतुर्दशभिरप्यहो ।
न तेजश्चक्रिणां यत्स्यात्, तदात्माधीनमेवहि[1] ॥११॥

अहो ! नौ निधियाँ एव चौदह रत्नो से भी चक्रवर्त्तियो को जिस तेज की प्राप्ति नही होती, वह तेज परम ज्योति के प्रकाश को प्राप्त हमारी आत्मा के अधीन है । (११)

दम्भपर्वतदम्भोलि, ज्ञानध्यानधनाः सदा ।
मुनयो वासवेभ्योऽपि, विशिष्ट धाम बिभ्रति ॥१२॥

दम्भ रूपी पर्वत को तोडने के लिये वज्र तुल्य, ज्ञान तथा ध्यान रूपी धन वाले मुनि इन्द्रो से भी अधिक तेज को धारण करते है । (१२)

श्रामण्ये वर्षपर्यायात्, प्राप्ते परमशुक्लताम् ।
सर्वार्थसिद्धदेवेभ्योऽप्यधिकं ज्योतिरुल्लसेत् ॥१३॥

एक वर्ष के श्रमण पर्याय के द्वारा परम शुक्लता को प्राप्त मुनिवरो को सर्वार्थसिद्ध विमान के देवो से भी अधिक ज्योति उल्लसित होती है । (१३)

विस्तारिपरमज्योति, –र्द्योतिताभ्यन्तराशयाः ।
जीवन्मुक्ता महात्मानो, जायन्ते विगतस्पृहाः ॥१४॥

विस्तार युक्त परम ज्योति से प्रकाशित अन्तरात्मा वाले जीवन-मुक्त महात्मा समस्त प्रकार की स्पृहा से रहित होते है । (१४)

जाग्रत्यात्मनि ते नित्य, बहिर्भावेषु शेरते ।
उदासते परद्रव्ये, लीयन्ते स्वगुणामृते ॥१५॥

वे आत्म-भाव के विषय मे सदा जाग्रत रहते है, बाह्य भावो में निरन्तर सोये हुए रहते है, पर द्रव्यो के विषय मे उदासीन रहते है और स्वगुण रूपी अमृत-पान के विषय मे तल्लीन रहते है । (१५)

यथैवाभ्युदितः सूर्यः, पिदधाति महान्तरम् ।
चारित्रापरमज्योति, –र्द्योतितात्मा तथा मुनिः ॥१६॥

उदित भानु जिस प्रकार घोर अधकार का नाश करता है, उसी

---

१ न

प्रकार से चारित्र रूपी परम ज्योति से प्रकाशित आत्मा वाले मुनिगण अज्ञानान्धकार को नष्ट कर डालते हैं। (१६)

प्रच्छन्न परम ज्योति - रात्मनोऽज्ञानभस्मना।
क्षणादाविर्भवत्युग्र - ध्यानवातप्रचारत॰ ॥१७॥

आत्मा की परम ज्योति अज्ञान रूपी भस्म से आच्छादित है। उग्र ध्यान रूपी वायु के प्रचार से क्षण भर मे उसका आविर्भाव होता है। (१७)

परकीय प्रवृत्तौ ये, मूकान्धबधिरोपमाः।
स्वगुणार्जन[1]-सज्जास्तै , परम ज्योतिराप्यते ॥१८॥

जो परकीय प्रवृत्ति मे मूक, अन्ध और बधिर की उपमा से युक्त हैं तथा स्वगुण के उपार्जन मे सज्ज हैं, वे परम ज्योति को प्राप्त करते हैं। (१८)

परेषा गुणदोषेषु, दृष्टिस्ते विषदायिनी।
स्वगुणानुभवालोकाद्, दृष्टिः पीयूषवर्षिणी ॥१९॥

दूसरो के गुण दोषो पर रही हुई तेरी दृष्टि विष की वृष्टि करने वाली है। स्वगुण का अनुभव करने के प्रकाश युक्त दृष्टि अमृत की वृष्टि करने वाली है। (१९)

स्वरूपादर्शन[2] श्लाघ्य, पररूपेक्षण वृथा।
एतावदेव विज्ञानं, परज्योतिः प्रकाशकम् ॥२०॥

स्वरूप का दर्शन श्लाघनीय है, पर रूप का ईक्षण वृथा है, इतना ही विज्ञान परम ज्योति का प्रकाशक है। (२०)

स्तोकमप्यात्मनो ज्योति , पश्यतो दीपवद्धितम्।
अन्धस्य दीपशतवत्, परज्योतिर्न बह्वपि ॥२१॥

तनिक आत्म-ज्योति भी दृष्टि युक्त को दीपक की तरह हितकर है। अन्धे के लिये एक सौ दोपको की तरह अधिक ज्योति भी दूसरो के लिये हितकार नही है। (२१)

---

१ सज्जाश्च ते पर।   २ स्वरूपादशन।

समताऽमृतमग्नानां, समाधिधूतपाप्मना ।
रत्नत्रयमयं शुद्धं, पर ज्योतिः प्रकाशते ।।२२।।

समता रूपी अमृत मे निमग्न एव समाधिपूर्वक पाप-कर्मों के नाशक महात्माओ को रत्नत्रयमय शुद्ध परम ज्योति प्रकाशमय करती है। (२२)

तीर्थंकरा गणधरा, लब्धिसिद्धाश्च साधवः ।
संजातास्त्रिजगद्वन्द्याः, परं ज्योतिष्प्रकाशतः ।।२३।।

तीर्थंकर, गणधर एव लब्धि-सिद्ध साधु पुरुष परम ज्योति के प्रकाश से त्रिलोक-वदनीय हुए है। (२३)

न रागं नापि च द्वेष, विषयेषु यदा व्रजेत् ।
औदासीन्यनिमग्नात्मा, तदाप्नोति परं महः ।।२४।।

उदासीन भाव मे निमग्न आत्माये जब विषयो मे राग अथवा द्वेष नही करती, तब वे परम ज्योति को प्राप्त करती है। (२४)

विज्ञाय परमज्योति - र्माहात्म्यमिदमुत्तमम् ।
यः स्थैर्यं याति लभते, स यशोविजयश्रियम् ।।२५।।

परम ज्योति का यह उत्तम माहात्म्य समझ कर जो स्थिरता प्राप्त करते है, वे यश एव विजय की लक्ष्मी प्राप्त करते है, अथवा श्रीयशोविजय की लक्ष्मी को प्राप्त करते है। (२५)

—o—

न्यायाचार्य-न्यायविशारद-महोपाध्याय
श्रीयशोविजय रचित

* परमात्म-पञ्चविंशतिका *

परमात्मा परम्ज्योतिः, परमेष्ठी निरञ्जनः ।
अजः सनातनः शुभः, स्वयम्भूर्जयताज्जिनः ॥१॥

परमात्मा, परज्योति, परमेष्ठी, निरजन, अज, सनातन, शभु एव स्वयभू श्री जिनेश्वर प्रभु की जय हो। (१)

नित्य विज्ञानमानन्दं, ब्रह्म यत्र प्रतिष्ठितम् ।
शुद्धबुद्धस्वभावाय, नमस्तस्मै परात्मने ॥२॥

जहाँ निरन्तर विज्ञान, आनन्द और ब्रह्म प्रतिष्ठित है, उन शुद्ध बुद्ध स्वभावी परमात्मा को नमस्कार हो। (२)

अविद्याजनितैः सर्वै -र्विकारैरनुपद्रुतः ।
व्यक्त्या शिवपदस्थोऽसौ, शक्त्या जयति सर्वगः ॥३॥

जो अज्ञान-जनित समस्त प्रकार के विकारो से अनुपद्रुत हैं, व्यक्ति के द्वारा शिव-पद मे विद्यमान हैं और शक्ति के द्वारा सर्वत्र व्यापक हैं। (३)

यतो वाचो निवर्तन्ते, न यत्र मनसो गतिः ।
शुद्धानुभवसवेद्य, तद्रूप परमात्मनः ॥४॥

जहाँ से वाणी लौट आती है और जहाँ से मन की गति नही होती; केवल शुद्ध अनुभव से ही ज्ञात हो सकने वाला परमात्मा का स्वरूप है। (४)

न स्पर्शो यस्य नो वर्णो, न गन्धो न रसश्श्रुतिः ।
शुद्धचिन्मात्रगुणवान्, परमात्मा स गीयते ॥५॥

जिनके स्पर्श नही है, वर्ण नही है, गध नही है, रस नही है तथा शब्द नही है और जो केवल शुद्ध ज्ञान-गुण के धारक हैं वे परमात्मा कहलाते हैं। (५)

माधुर्यातिशयो यद्वा, गुणौघः परमात्मन ।
तथाऽऽख्यातु ं न शक्योऽपि, प्रत्याख्यातु ं न शक्यते ।।६।।

अथवा अतिशय मधुरता के धारक परमात्मा का समुदाय अमुक प्रकार का है, यह भी नही कहा जा सकता और अमुक प्रकार का नही है, यह भी नही कहा जा सकता। (६)

बुद्धो जिनो हृषीकेशः, शम्भुर्ब्रह्मादिपुरुषः ।
इत्यादिनामभेदेऽपि, नाऽर्थतः स विभिद्यते ।।७।।

बुद्ध, जिन, हृषिकेश, शभु, ब्रह्मा आदिपुरुष इत्यादि नामो से अनेक भेद युक्त होने पर भी अर्थ से तनिक भी भेद नही है। (७)

धावन्तोऽपि नया नैके, तत्स्वरूपं स्पृशन्ति न ।
समुद्रा[1] इव कल्लोलैः, कृतप्रतिनिवृत्तयः ।।८।।

दौडते हुए अनेक नय परमात्मा के स्वरूप का स्पर्श नही कर सकते। जिस प्रकार समुद्र की तरगे समुद्र मे लौट आती है उसी प्रकार से नय भी (परमात्म स्वरूप का स्पर्श किये बिना) पुनः लौट आते है। (८)

शब्दोपरक्ततद्रूप, –बोधकृन्नयपद्धतिः (ते) ।
निर्विकल्पं तु तद्रूप, गम्य नाऽनुभव विना ।।९।।

नय का मार्ग शब्दो के द्वारा उपरक्त बन कर परमात्म-स्वरूप का बोध कराता है, परन्तु परमात्मा का निर्विकल्प स्वरूप अनुभव के बिना केवल शब्दो से जाना नही जा सकता। (९)

केषा न कल्पना दर्वी, शास्त्रक्षीरान्नगाहिनी ।
स्तोकास्तत्त्वरसा स्वाद - विदोऽनुभवजिह्वया ।।१०।।

शास्त्ररूपी क्षीरान्न का अवगाहन करने वाली कल्पना रूपी कडछी भला किसे प्राप्त नही हुई है ? अनुभव रूपी जीभ (रसना) के द्वारा उसका रसास्वादन करने वाले जगत् मे विरले ही है। (१०)

जितेन्द्रिया जितक्रोधा, दान्तात्मान शुभाशया ।
परमात्मगति यान्ति, विभिन्नैरपि वर्त्मभि ।।११।।

जितेन्द्रिय, क्रोध-विजेता, आत्मा का दमन करने वाले और शुभ आशय वाले महापुरुष भिन्न-भिन्न मार्गों के द्वारा भी परमात्म स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करते हैं। (११)

---

१. सामुद्रा इव कल्लोला ।

नूनं मुमुक्षव. सर्वे , परमेश्वरसेवका· ।
दुरासन्नादिभेदस्तु, तद्भृत्यत्व निहन्ति न ॥१२॥

समस्त मुमुक्षु आत्माये निश्चित रूप से परमेश्वर के सेवक ही हैं। दूर, समीप आदि का भेद उनके सेवकत्व मे तनिक भी बाधक नही होता। (१२)

नाममात्रेण ये दृप्ता, ज्ञानमार्गविवर्जिताः ।
न पश्यन्ति परात्मान[1], ते घूका इव भास्करम् ॥१३॥

ज्ञान-मार्ग से रहित एव परमात्मा के नाम मात्र से अभिमानी बने पुरुष, जिस प्रकार उलूक (उल्लू) सूर्य को नही देख सकता उसी प्रकार, परमात्मा को देख नही सकते। (१३)

श्रमः शास्त्राश्रयः सर्वो, यज्ज्ञानेन फलेग्रहिः ।
ध्यातव्योऽयमुपास्योऽय, परमात्मा निरञ्जनः ॥१४॥

शास्त्र-सम्बन्धी समस्त परिश्रम, जिनका ज्ञान होने के पश्चात् ही सफल होता है, वे एक निरजन परमात्मा ही ध्यान करने योग्य एव उपासना करने योग्य है। (१४)

नान्तराया न मिथ्यात्व, हासो रत्यरती च न ।
न भीर्यस्य जुगुप्सा नो, परमात्मा स मे गति· ॥१५॥

जिनके अन्तराय नही है, मिथ्यात्व नही है, हास्य नही है, रति नही है, अरति नही है, भय नही है और जुगुप्सा नही है वे परमात्मा मुझे शरण-गति देने वाले बने। (१५)

न शोको यस्य नो कामो, ना ज्ञानाविरती तथा ।
नावकाशश्च निद्रायाः , परमात्मा स मे गति ॥१६॥

जिन्हे शोक नही है, काम नही है, अज्ञान नही है, अविरति नही है तथा नीद का अवकाश नही है वे परमात्मा मेरे शरण-भूत हो। (१६)

रागद्वेषौ हतौ येन, जगत्त्रय भयंकरौ ।
स त्राण परमात्मा मे, स्वप्ने वा जागरेऽपि वा ॥१७॥

तीनो लोको के लिये भयकर राग एव द्वेष को जिन्होने नष्ट कर दिया है वे परमात्मा स्वप्न मे अथवा जागृत अवस्था मे मेरे रक्षक बनें। (१७)

---

१ परेशान।

उपाधिजनिता भावा, ये ये जन्मजरादिकाः ।
तेषां तेषां निषेधेन, सिद्धं रूपं परात्मनः ।।१८।।

कर्म रूपी उपाधि से उत्पन्न होने वाले जो-जो जन्म, जरा आदि भाव है उन-उन भावो का निषेध होने पर परमात्मा का स्वरूप सिद्ध होता है। (१८)

अतद्व्यावृत्तितो भिन्नं, सिद्धान्ताः कथयन्ति तम् ।
वस्तुतस्तु न निर्वाच्यं, तत्स्वरूप[1] कथञ्चन ।।१९।।

"वह इस प्रकार का नही है"–यह कह कर सिद्धान्त उसके रूप का वर्णन करते है, परन्तु वस्तुत परमात्मा के स्वरूप का किसी भी प्रकार से वर्णन नही किया जा सकता। (१९)

जानन्नपि यथा म्लेच्छो, न शक्नोति पुरीगुणान् ।
प्रवक्तुमुपमाऽभावात्, तथा सिद्धसुखं जिनः ।।२०।।

गाव का निवासी नगर के गुणो को जानते हुए भी उपमाओ के अभाव मे उनके विषय मे कुछ कह नही सकता, इसी प्रकार केवलज्ञानी महात्मा भी उपमाओ के अभाव मे सिद्ध परमात्मा के सुख का वर्णन नही कर सकते। (२०)

सुरासुराणां सर्वेषां, यत्सुखं पिण्डितं भवेत् ।
एकत्राऽपि हि सिद्धस्य, तदनन्ततमांशगम् ।।२१।।

समस्त सुरासुरो के सुख को यदि एक स्थान पर एकत्रित कर लिया जाये तो भी वह एक सिद्ध के सुख के अनन्तवे भाग जितना भी नही होता। (२१)

अदेहा दर्शनज्ञानो –पयोगमयमूर्त्तय ।
आकालं परमात्मान , सिद्धा सन्ति निरामया ।।२२।।

सिद्ध परमात्मा देहरहित, दर्शन एव ज्ञानोपयोग स्वरूप से युक्त तथा सर्वदा रोग एव पीडारहित होते है। (२२)

लोकाग्रशिखरारूढाः , स्वभावसमवस्थिता ।
भवप्रपञ्चनिर्मुक्ताः , युक्तानन्ताऽवगाहना ।।२३।।

---

१. तस्य रूप ।

वे लोक के अग्र भाग रूपी शिखर पर आरुढ होते है, वे सदा अपने स्वभाव मे अवस्थित होते हैं, ससार के प्रपचो से सर्वथा मुक्त होते है और अनन्त सिद्धो की अवगाहना मे रहे हुए होते हैं। (२३)

ईलिका भ्रमरीध्यानाद्, भ्रमरीत्व यथाऽश्नुते ।
तथा ध्यायन् परात्मान, परमात्मत्वमाप्नुयात् ।।२४।।

भ्रमरी के ध्यान से जिस प्रकार ईलिका भ्रमरी बन जाती है, उसी प्रकार से परमात्मा का ध्यान करने वाली आत्मा परमात्मत्व प्राप्त करती है। (२४)

परमात्मगुणानेव[1], ये ध्यायन्ति समाहिता. ।
लभन्ते निभृतानन्दा –स्ते यशोविजयश्रियम् ।।२५।।

इस प्रकार समाधियुक्त मनवाले पुरुष जो परमात्मा के गुणो का ध्यान करते है, वे परिपूर्ण आनन्दमय बन कर यश का विजय करने वाली लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं, अथवा श्री यशोविजय की लक्ष्मी को प्राप्त करते है। (२५)

१ गुणानेव ।

कलिकालसर्वज्ञ-श्रीमद्-हेमचन्द्राचार्य-विरचित

* वीतराग-स्तोत्रम् *

प्रथम प्रकाश

यः परात्मा परंज्योति , परमः परमेष्ठिनाम् ।
आदित्यवर्णं तमस , परस्तादामनन्ति यम् ।।१।।

जो परात्मा, परज्योति एव परमेष्ठियो मे प्रधान है, जिन्हे पण्डित-गरण अज्ञान से पार पाये हुए एव सूर्य के समान उद्योत करने वाले मानते है। (१)

सर्वे येनोदमूल्यन्त, समूलाः क्लेशपादपा ।
मूर्ध्ना यस्मै नमस्यन्ति, सुरासुरनरेश्वराः ।।२।।

जिन्होने राग आदि क्लेश-वृक्षो का समूल उन्मूलन कर दिया है, जिनके (चरणो मे) सुर, असुर, मनुष्य एव उनके अधिपति नत मस्तक होते है। (२)

प्रावर्त्तन्त यतो विद्याः, पुरुषार्थप्रसाधिका ।
यस्य ज्ञान भवद्भावि - भूतभावावभासकृत् ।।३।।

जिनसे पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाली शब्द आदि विद्याएँ प्रवर्तित है, जिनका ज्ञान वर्तमान, भावि और भूत भावो का प्रकाशक है। (३)

यस्मिन्विज्ञानमानन्द, ब्रह्म चैकात्मतां गतम् ।
स श्रद्धेयः स च ध्येय , प्रपद्ये शरणं च तम् ।।४।।

जिनमे विज्ञान-केवलज्ञान, आनन्द-सुख और ब्रह्म-परमपद ये तीनो एकात्म-एकरूप हो गये है, वे श्रद्धेय है तथा ध्येय है और मैं उनकी शरण अङ्गीकार करता हू। (४)

तेन स्यां नाथवास्तस्मै, स्पृहयेय समाहितः ।
ततः कृतार्थो भूयास, भवेय तस्य किङ्करः ।।५।।

उनके कारण मैं सनाथ हू, समाहित मन वाला मैं उनकी इच्छा करता हू, मैं उनसे कृतार्थ होता हू, और मैं उनका सेवक हू । (५)

तत्र स्तोत्रेण कुर्या च, पवित्रा स्वा सरस्वतीम् ।
इद हि भवकान्तारे, जन्मिना जन्मन फलम् ।।६।।

उनकी स्तुति करके मैं अपनी वाणी पवित्र करता हू क्योकि इस भव-वन मे प्राणियो के जन्म का यही एक फल है । (६)

क्वाह पशोरपि पशु –र्वीतरागस्तवः क्व च ।
उत्तितीर्षुररण्यानीं, पद्भ्या पङ्गुरिवास्म्यतः ।।७।।

पशु से भी गया बीता मैं कहाँ और सुरगुरु (बृहस्पति) से भी असभव वीतराग की स्तुति कहाँ ? इस कारण दो पाँवो से बडे भारी वन को लाघने के अभिलाषी पगु के समान मैं हू । (७)

तथापि श्रद्धामुग्धोऽह, नोपालभ्य स्खलन्नपि ।
विश्रृङ्खलापि वाग्वृत्ति, श्रद्दधानस्य शोभते ।।८।।

तो भी श्रद्धा-मुग्ध मैं प्रभु की स्तुति करने मे स्खलित होने पर भी उपालम्भ का पात्र नही हू । श्रद्धालु व्यक्ति की सम्बन्ध-विहीन वाक्य-रचना भी सुशोभित होती है । (८)

श्रीहेमचन्द्रप्रभवाद्, –वीतरागस्तवादित ।
कुमारपालभूपाल प्राप्नोतु फलमीप्सितम् ।।९।।

श्री हेमचन्द्रसूरि द्वारा रचित इस श्री वीतरागस्तव से श्री कुमारपाल भूपाल श्रद्धा-विशुद्धि-लक्षण एव कर्मक्षय-लक्षण इच्छित फल प्राप्त करे । (९)

—o—

दूसरा प्रकाश

प्रियङ्गु - स्फटिक स्वर्ण - पद्मरागाञ्जनप्रभ ।
प्रभो ! तवाधौतशुचि , काय कमिव नाक्षिपेत् ।।१।।

हे प्रभु ! प्रियगु के समान नीले वर्ण की, स्फटिक के समान उज्ज्वल वर्ण की, स्वर्ण के समान पीत वर्ण की, पद्मराग के समान लाल और अञ्जन के समान श्याम कान्ति वाली और धोये बिना ही पवित्र आपकी देह भला किसे आश्चर्य-चकित नही करेगी ? (१)

मन्दार - दामवन्नित्य - मवासित - सुगन्धिनि ।
तवाङ्गे भृङ्गतां यान्ति, नेत्राणि सुरयोषिताम ।।२।।

कल्पवृक्ष के पुष्पो की माला के समान स्वभाव से ही सुगन्धित आपके देह पर देवाङ्गनाओ के नेत्र भौरो की तरह मडराते है । (२)

दिव्यामृतरसास्वाद - पोषप्रतिहता इव ।
समाविशन्ति ते नाथ ! नाङ्गे रोगोरगव्रजाः ।।३।।

हे नाथ ! दिव्य अमृत रस के स्वाद की पुष्टि से पराजित हो गये हो उस प्रकार से कास, श्वास आदि रोग रूपी सापो के समूह आपके देह मे प्रविष्ट नही होते । (३)

त्वय्यादर्शतलालीन - प्रतिमाप्रतिरूपके ।
क्षरत्स्वेदविलीनत्व - कथाऽपि वपुषः कुतः? ।।४।।

दर्पण मे प्रतिबिम्बित प्रतिबिम्ब की तरह स्वच्छ आपके देह मे से निकलते पसीने से व्याप्त हो ऐसी बात भी कहां से हो सकती है ? (४)

न केवल रागमुक्तं, वीतराग ! मनस्तव ।
वपुः स्थित रक्तमपि, क्षीरधारासहोदरम् ।।५।।

हे वीतराग ! केवल आपका मन ही राग-रहित है ऐसी बात नही है, आपके देह का रुधिर भी दूध की धारा के समान उज्ज्वल है, श्वेत है । (५)

जगद्विलक्षण किं वा, तवान्यद्वक्तुमीश्महे ? ।
यदविस्रमबीभत्सं, शुभ्र मांसमपि प्रभो ! ।।६।।

अथवा हे प्रभु ! जगत् से विलक्षण आपका हम अन्य कितना वर्णन करने मे समर्थ हो सकते है ? क्योकि आपका मास भी दुर्गन्ध-विहीन-दुर्गञ्छा-विहीन तथा उज्ज्वल है । (६)

जलस्थलसमुद्भूता, संत्यज्य सुमनः स्रजः ।
तव निःश्वाससौरभ्य - मनुयान्ति मधुव्रता ॥७॥

जल-थल मे उत्पन्न पुष्प-मालाओ का त्याग करके भौंरे आपके नि श्वास की सौरभ लेने के लिये आपके पीछे आते है। (७)

लोकोत्तरचमत्कार - करी तव भवस्थितिः ।
यतो नाहारनीहारौ, गोचरश्चर्मचक्षुषाम् ॥८॥

आपका ससार मे निवास लोकोत्तर चमत्कार (अपूर्व आश्चर्य) उत्पन्न करने वाला है, क्योकि आपके आहार एव नीहार चर्म-चक्षु वालो के लिये अगोचर हैं, अदृश्य हैं। (८)

—०—

तीसरा प्रकाश

सर्वाभिमुख्यतो नाथ !, तीर्थकृन्नामकर्मजात् ।
सर्वथा सम्मुखीनस्त्वमानन्दयसि यत्प्रजाः ॥१॥

हे नाथ ! तीर्थंकर नामकर्म जनित "सर्वाभिमुख्य" नामक अतिशय से, केवल-ज्ञान के प्रकाश से सर्वथा समस्त दिशाओ मे सम्मुख रहने वाले आप देव, मनुष्य आदि समस्त प्रजा को समस्त प्रकार से आनन्द प्रदान करते है। (१)

यद्योजनप्रमाणेऽपि, धर्मदेशनसद्मनि ।
समान्ति कोटिशस्तिर्यग्नृदेवाः सपरिच्छदाः ॥२॥

धर्मदेशना की एक योजन भूमि मे अपने-अपने परिवार सहित करोडो तिर्यच, मनुष्य एव देवता समाविष्ट हो जाते हैं। (२)

तेषामेव स्वस्वभाषा - परिणाममनोहरम् ।
अप्येकरूप वचन, यत्ते धर्मावबोधकृत् ॥३॥

अपनी-अपनी भाषा मे एक समान ज्ञात हो जाने से आपके मनोहर वचन उन्हे धर्म का बोध कराने वाले है। (३)

साग्रेऽपि योजनशते, पूर्वोत्पन्नाः गदाम्बुदाः ।
यदञ्जसा विलीयन्ते, त्वद्विहारानिलोर्मिभिः ॥४॥

आपके विहार रूपी वायु की लहरो से सवा सौ योजन के क्षत्र मे पूर्वोत्पन्न रोग रूपी बादल तुरन्त विलीन हो जाते है। (४)

नाविर्भवन्ति यद्भूमौ, मूषकाः शलभाः शुकाः ।
क्षणेन क्षितिप्रक्षिप्ता, अनीतय इवेतय ॥५॥

राजाओ द्वारा परित्यक्त अनीतियो की तरह भूमि मे मूषक (चूहे) शलभ (टिड्डी) और पोपट आदि के उपद्रव क्षणभर मे नष्ट हो जाते हैं। (५)

स्त्रीक्षेत्रपद्रादिभवो, यद्वैराग्निः प्रशाम्यति ।
त्वत्कृपापुष्करावर्त्तवर्षादिव भुवस्तले ॥६॥

आपकी कृपा रूपी पुष्करावर्त्त मेघ (बादलो) की वृष्टि से ही मानो आप जहा चरण रखते है वहाँ स्त्री, क्षेत्र एव नगर आदि से उत्पन्न द्वेष रूपी अग्नि का शमन हो जाता है। (६)

तत्प्रभावे भुवि भ्राम्यत्यशिवोच्छेदडिण्डिमे ।
सम्भवन्ति न यन्नाथ !, मारयो भुवनारय ॥७॥

हे नाथ ! अशिव का उच्छेद करने के लिये डिम-डिम नाद के समान आपका प्रभाव भूमि पर होने से लोक-शत्रु तुल्य महामारी, मरकी आदि उपद्रव उत्पन्न नही होते। (७)

कामवर्षिणि लोकानां, त्वयि विश्वैकवत्सले ।
अतिवृष्टिरवृष्टिर्वा, भवेद्यन्नोपतापकृत् ॥८॥

लोक-कामित की वृष्टि करने वाले अद्वितीय विश्ववत्सल आपके विद्यमान होने से परितापकारी अतिवृष्टि अथवा अनावृष्टि नही होती। (८)

स्वराष्ट्र-परराष्ट्रेभ्यो, यत्क्षुद्रोपद्रवा द्रुतम् ।
विद्रवन्ति त्वत्प्रभावात्, सिंहनादादिव द्विपाः ॥९॥

जिस प्रकार सिह-नाद से हाथी भाग जाते है उसी प्रकार से स्वराष्ट्र एव पर-राष्ट्र से उत्पन्न क्षुद्र उपद्रव आपके प्रभाव से तुरन्त नष्ट हो जाते है। (९)

यत्क्षीयते च दुर्भिक्ष, क्षितौ विहरति त्वयि ।
सर्वाद्भुतप्रभावाढ्ये, जङ्गमे कल्पपादपे ।।१०।।

समस्त प्रकार के अद्भुत प्रभावशाली जगम कल्पवृक्ष के समान आपके पृथ्वी पर विचरण करने से दुर्भिक्ष समाप्त हो जाता है। (१०)

यन्मूर्ध्नः पश्चिमे भागे, जितमार्त्तण्डमण्डलम् ।
माऽभूद्वपुर्दुरालोकमितीवोत्पिण्डित महः ।।११।।

आपके देह के दर्शन मे रुकावट न हो उसके लिये ही मानो सुर-असुरो ने आपके मस्तक के पीछे एक स्थान पर ही एकत्रित किए हुए आप के देह का ही मानो महातेज न हो ऐसे सूर्य-मण्डल से भी अधिक तेजस्वी तेज का मण्डल—भामण्डल स्थापित किया हुआ है। (११)

स एष योगसाम्राज्य - महिमा विश्वविश्रुत. ।
कर्मक्षयोत्थो भगवन्कस्य नाश्चर्यकारणम् ? ।।१२।।

हे भगवन् ! घाती कर्म के क्षय से उत्पन्न विश्व-विख्यात योग साम्राज्य की महिमा भला किसे आश्चर्य-चकित नही करती ? (१२)

अनन्तकालप्रचित - मनन्तमपि सर्वथा ।
त्वत्तो नान्य कर्मकक्षमुन्मूलयति मूलत· ।।१३।।

अनन्त काल से उपार्जित अनन्त कर्म-वन का आपके सिवाय अन्य कोई भी मूलोच्छेदन करने मे समर्थ नही है। (१३)

तथोपाये प्रवृत्तस्त्व, क्रियासमभिहारतः ।
यथानिच्छन्नुपेयस्य, परा श्रियमशिश्रिय· ।।१४।।

हे प्रभु ! चारित्र रूपी उपाय मे बार बार के अभ्यास से आप उस प्रकार से प्रवृत्त हुए हैं जिससे अनिच्छा से भी मोक्ष रूपी उत्कृष्ट लक्ष्मी आपने प्राप्त की है। (१४)

मैत्रीपवित्रपात्राय, मुदितामोदशालिने ।
कृपोपेक्षाप्रतीक्षाय, तुभ्य योगात्मने नम· ।।१५।।

मैत्री भावना के पवित्र पात्र स्वरूप, प्रमोद भावना के द्वारा सुशोभित तथा करुणा एव मध्यस्थ भावना के द्वारा पूजनीय आप योगात्मा (योग स्वरूप) को नमस्कार हो। (१५)

—०—

मिथ्यादृशां युगान्तार्कः सुदृशाममृताञ्जनम् ।
तिलक तीर्थकृल्लक्ष्म्याः, पुरश्चक्रं तवैधते ।।१।।

मिथ्यादृष्टियो के लिये प्रलयकालीन सूर्य समान तथा सम्यग्-दृष्टियो के लिये अमृत के अञ्जन समान शान्ति-दायक, तीर्थंकर की लक्ष्मी के तिलक–स्वरूप हे प्रभु ! आपके आगे धर्मचक्र सुशोभित हो रहा है। (१)

एकोऽयमेव जगति, स्वामीत्याख्यातुमुच्छ्रिता ।
उच्चैरिन्द्रध्वजव्याजात्तर्जनी जम्भविद्विषा ।।२।।

"जगत मे वीतराग ही एक स्वामी है"—यह कहने के लिये इन्द्र ने ऊचे इन्द्रध्वज के बहाने अपनी तर्जनी अगुली ऊची की हो ऐसा प्रतीत होता है। (२)

यत्र पादौ पदं धत्तस्तव तत्र सुरासुराः ।
किरन्ति पङ्कजव्याजाच्छ्रियं पङ्कजवासिनीम् ।।३।।

जहा आपके दो चरण पडते है वहा देव एव दानव स्वर्ण कमल के बहाने कमल मे निवास करने वाली लक्ष्मी का विस्तार करते हैं। (३)

दानशीलतपोभाव - भेदाद्धर्मं चतुर्विधम् ।
मन्ये युगपदाख्यातुं, चतुर्वक्त्रोऽभवद् भवान् ।।४।।

मैं यह मानता हू कि दान, शील, तप और भाव के भेद से चार प्रकार का धर्म एक साथ स्पष्ट करने के लिये ही आप चार मु ह युक्त हुए है।(४)

त्वयि दोषत्रयात् त्रातुं, प्रवृत्ते भुवनत्रयीम् ।
प्राकारत्रितय चक्रुस्त्रयोऽपि त्रिदिवौकसः ।।५।।

तीनो लोको को राग, द्वेष तथा मोह रूपी तीनो दोषो से वचाने के लिये आपके प्रवृत्त होने से वैमानिक, ज्योतिषी और भुवनपति तीन प्रकार के देवो ने रत्नमय, स्वर्णमय एव रजतमय तीन प्रकार के किलो (समवसरण) की रचना की है। (५)

अधोमुखा कण्टका स्युर्धात्र्या विहरतस्तव ।
भवेयुः सम्मुखीना. किं, तामसास्तिग्मरोचिषः ?।।६।।

आपके पृत्वी पर विचरण करने से काटे अधोमुखी हो जाते है। क्या सूर्योदय होने पर उलूक अथवा अधकार का ममूह ठहर सकता है ? (६)

केशरोमनखश्मश्रु, तवावस्थितमित्ययम् ।
वाह्योऽपि योगमहिमा, नाप्तस्तीर्थंकरैः परै ।।७।।

आपके वाल, रोम, नाखून और दाढी-मूछो के बाल, दीक्षा ग्रहण करने के समय जितने होते है उतने ही रहते हैं । इस प्रकार की बाह्य योग की महिमा भी अन्य देवो ने प्राप्त नही की । (७)

शब्दरूपरसस्पर्श–गन्धाख्याः पञ्च गोचराः ।
भजन्ति प्रातिकूल्य न, त्वदग्रे तार्किका इव ।।८।।

आपके समक्ष अन्य (बौद्ध) तार्किको की तरह शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्ध रूप पाचो इन्द्रियो के विषय प्रतिकूल नही होते, अनुकूल रहते हैं। (८)

त्वत्पादावृतवः सर्वे, युगपत्पर्युपासते ।
आकालकृतकन्दर्प – साहायकभयादिव ।।९।।

मानो अनादि काल से कामदेव को की गई सहायता के भय से ही समस्त ऋतुयें एक साथ आकर आपके चरणो की सेवा करती हैं। (९)

सुगन्ध्युदकवर्षेण, दिव्यपुष्पोत्करेण च ।
भावित्वत्पादसस्पर्शां, पूजयन्ति भुव सुराः ।।१०।।

जिस भूमि पर भविष्य मे आपके चरणो का स्पर्श होने वाला है उस भूमि को देवतागण सुगन्धित जल की वृष्टि से तथा दिव्य पुष्पो के समूह से पूजते हैं । (१०)

जगत्प्रतीक्ष्य ! त्वां यान्ति, पक्षिणोऽपि प्रदक्षिणम् ।
का गतिर्महतां तेषा, त्वयि ये वामवृत्तय ? ।।११।।

हे विश्व पूज्य ! पक्षी भी आपकी प्रदक्षिणा करते हैं, तो फिर आपके प्रति प्रतिकूल व्यवहार करने वाले तथाकथित वडे पुरुषो की क्या गति समझी जाये ? (११)

पञ्चेन्द्रियाणां दौःशील्यं, क्व भवेद् भवदन्तिके ।
एकेन्द्रियोऽपि यन्मुञ्चत्यनिलः प्रतिकूलताम् ।।१२।।

आपके समक्ष पचेन्द्रिय तो दुष्टता कर ही कैसे सकते है, क्योकि एकेन्द्रिय वायु भी आपके समक्ष प्रतिकूलता का त्याग कर देता है। (१२)

मूर्ध्ना नमन्ति तरवस्त्वन्माहात्म्यचमत्कृताः ।
तत्कृतार्थं शिरस्तेषा, व्यर्थं मिथ्यादृशां पुनः ।।१३।।

हे प्रभु ! आपके माहात्म्य से चमत्कृत वृक्ष भी आपके समक्ष नत मस्तक होते हैं जिससे उनके मस्तक कृतार्थ हैं, किन्तु आपके समक्ष नत मस्तक नही होने वाले मिथ्यात्वियो के मस्तक व्यर्थ हैं । (१३)

जघन्यत कोटिसख्यास्त्वां सेवन्ते सुरासुरा ।
भाग्यसम्भारलभ्येऽर्थे, न मन्दा अप्युदासते ।।१४।।

हे प्रभु ! जघन्य से एक करोड देव एव असुर आपकी सेवा करते है, क्योकि भाग्योदय से प्राप्त पदार्थ के लिये मन्द आत्मा भी उदासीन नही रहते। (१४)

—o—

पाचवा प्रकाश

गायन्निवालिविरुतैर्नृत्यन्निवचलैर्दलैः ।
त्वद्गुणैरिव रक्तोऽसौ, मोदते चैत्यपादपः ।।१।।

हे नाथ ! भौंरो के गुञ्जन से मानो गीत गाता हो, चचल पत्तो के द्वारा मानो नृत्य करता हो तथा आपके गुणो से मानो रक्त हुआ हो उस प्रकार से यह अशोक वृक्ष प्रफुल्लित हो रहा है। (१)

आयोजनं सुमनसोऽधस्तान्निक्षिप्तबन्धना ।
जानुदघ्नीः सुमनसो, देशनोर्व्यां किरन्ति ते ।।२।।

हे नाथ ! एक योजन तक जिनके डीटडे नीचे हैं ऐसे जानु प्रमाण पुष्पो को देवतागण आपकी देशना भूमि पर बरसाते है। (२)

स्पृहयन्ति वद् योगाय, यत्तेऽपि लवसत्तमा ।
योग-मुद्रादरिद्राणा, परेषा तत्कथैव का ? ॥४॥

आपके योग की स्पृहा लवसप्तम अनुत्तर विमानवासी देव भी करते हैं। योग-मुद्रा से रहित पर-दार्शनिको मे उस योग की बात भी क्यो हो ? नही होगी। (४)

त्वां प्रपद्यामहे नाथ, त्वा स्तुमस्त्वामुपास्महे ।
त्वत्तो हि न परस्त्राता, किं ब्रूम ? किमु कुर्महे? ॥५॥

आपको हम नाथ के रूप मे स्वीकार करते हैं, आपकी हम स्तुति करते हैं और आपकी हम उपासना करते हैं, क्योकि आपसे अधिक अन्य कोई हमारा रक्षक नही है, आपकी स्तुति से अधिक अन्य कुछ भी बोलने योग्य नही है और आपकी उपासना से अधिक अन्य कुछ भी करने योग्य नही है। (५)

स्वय मलीमसाचारैः प्रतारणपरैः परैः ।
वञ्च्यते जगदप्येतत्कस्य पूत्कुर्महे पुर. ? ॥६॥

स्वय मलिन आचार वाले और पर को ठगने मे तत्पर अन्य देवो के द्वारा यह विश्व ठगा जा रहा है। हे नाथ! हम किसके समक्ष जाकर पुकार करें ? (६)

नित्यमुक्तान् जगज्जन्म –क्षेमक्षयकृतोद्यमान् ।
वन्ध्यास्तनन्धयप्रायान्, को देवाश्चेतन' श्रयेत् ॥७॥

नित्य मुक्त एव जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करने मे प्रयत्नशील वन्ध्या (बाझ) के पुत्र के समान देवो का कौन सचेतन व्यक्ति आश्रय ग्रहण करेगा ? (७)

कृतार्था जठरोपस्थ –दुःस्थितैरपि दैवतैः ।
भवादृशान्निह्नुवते, हा हा ? देवास्तिका. परे ॥८॥

जठर (उदर) एव उपस्थ (इन्द्रियवर्ग) से पीडित देवो से कृतकृत्य बने अन्य देव – आस्तिक कुतीर्थिक आप जैसे का अपलाप करते है, जो सचमुच अत्यन्त दुख का विषय है। (८)

वृद्धि होती हुई आपकी पुण्य ऋद्धि के क्रम के समान एक दूसरे पर आये हुए तीन छत्र मानो तीनो लोको मे छाई हुई आपकी प्रभुता की प्रौढता बता रहे है। (८)

एतां चमत्कारकरीं, प्रातिहार्यश्रिय तव।
चित्रीयन्ते न के दृष्ट्वा, नाथ! मिथ्यादृशोऽपि हि ॥९॥

हे नाथ! चमत्कारपूर्ण आपकी इस प्रातिहार्य लक्ष्मी को देखकर किन मिथ्यात्वियो को आश्चर्य नही होता ? अर्थात् सभी को आश्चर्य होता है। (९)

—०—

छठा प्रकाश

लावण्यपुण्यवपुषि, त्वयि नेत्रामृताञ्जने।
माध्यस्थ्यमपि दौःस्थ्याय, किं पुनर्द्वेषविप्लव ॥१॥

नेत्रो के लिये अमृत के अञ्जन के समान और लावण्य से पवित्र देह वाले आपके लिये मध्यस्थता धारण करना भी दु ख के लिये है, तो फिर द्वेष भाव धारण करने वालो के लिये तो कहना ही क्या ? (१)

तवापि प्रतिपक्षोऽस्ति, सोऽपि कोपादिविप्लुतः।
अनया किंवदन्त्याऽपि, किं जीवन्ति विवेकिनः ॥२॥

आपके भी प्रतिपक्षी (शत्रु) है और वे भी क्रोध आदि से व्याप्त है। इस प्रकार की किंवदन्ति (कुत्सित बात) सुनकर विवेकी पुरुष क्या प्राण धारण कर सकते है ? कदापि नही। (२)

विपक्षस्ते विरक्तश्चेत्, स त्वमेवाथ रागवान्।
न विपक्षो विपक्षः किं, खद्योतो द्युतिमालिनः? ॥३॥

आपका विपक्ष यदि विरक्त है तो वह आप ही हैं और यदि रागी है तो वह विपक्ष ही नही है। क्या सूर्य का शत्रु (विपक्ष) खद्योत (जुगनू) हो सकता है ? (३)

स्पृहयन्ति वद् योगाय, यत्तेऽपि लवसत्तमा ।
योग-मुद्रादरिद्राणां, परेषा तत्कथैव का ? ।।४।।

आपके योग की स्पृहा लवसप्तम अनुत्तर विमानवासी देव भी करते हैं। योग-मुद्रा से रहित पर-दार्शनिको मे उस योग की बात भी क्यो हो ? नही होगी । (४)

त्वा प्रपद्यामहे नाथं, त्वां स्तुमस्त्वामुपास्महे ।
त्वत्तो हि न परस्त्राता, किं ब्रूमः? किमु कुर्महे? ।।५।।

आपको हम नाथ के रूप मे स्वीकार करते हैं, आपकी हम स्तुति करते हैं और आपकी हम उपासना करते हैं, क्योकि आपसे अधिक अन्य कोई हमारा रक्षक नही है, आपकी स्तुति से अधिक अन्य कुछ भी बोलने योग्य नही है और आपकी उपासना से अधिक अन्य कुछ भी करने योग्य नही है । (५)

स्वय मलीमसाचारै , प्रतारणपरै परैः ।
वञ्च्यते जगदप्येतत्कस्य पूत्कुर्महे पुरः ? ।।६।।

स्वय मलिन आचार वाले और पर को ठगने मे तत्पर अन्य देवो के द्वारा यह विश्व ठगा जा रहा है । हे नाथ ! हम किसके समक्ष जाकर पुकार करे ? (६)

नित्यमुक्तान् जगज्जन्म –क्षेमक्षयकृतोद्यमान् ।
वन्ध्यास्तनन्धयप्रायान्, को देवाश्चेतन· श्रयेत् ।।७।।

नित्य मुक्त एव जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करने मे प्रयत्नशील वन्ध्या (वाझ) के पुत्र के समान देवो का कौन सचेतन व्यक्ति आश्रय ग्रहण करेगा ? (७)

कृतार्था जठरोपस्थ –दु स्थितैरपि दैवतै· ।
भवादृशान्निह्नुवते, हा हा ? देवास्तिका. परे ।।८।।

जठर (उदर) एव उपस्थ (इन्द्रियवर्ग) से पीडित देवो से कृत्कृत्य वने अन्य देव – आस्तिक कुतीर्थिक आप जैसे का अपलाप करते है, जो सचमुच अत्यन्त दुख का विषय है । (८)

खपुष्पप्रायमुत्प्रेक्ष्य, किञ्चिन्मानं प्रकल्प्य च ।
संमान्ति देहे गेहे वा, न गेहेनर्दिन परे ॥९॥

आकाश के पुष्प के समान किसी वस्तु की कल्पना करके और उसे सिद्ध करने के लिये किसी प्रमाण को प्रस्तुत करके घर मे शूरवीर(गेहेनर्दी) परतीर्थिक अपने देह मे अथवा घर मे समाते नही हैं अर्थात् हमारा ही धर्म श्रेष्ठ है यह मानकर व्यर्थ फूलते है। (९)

कामराग-स्नेहरागा –वीषत्करनिवारणौ ।
दृष्टिरागस्तु पापीयान् , दुरूच्छेदः सतामपि ॥१०॥

काम-राग एव स्नेह-राग का निवारण सुकर है, किन्तु पापी दृष्टि-राग सज्जन पुरुषो के लिये भी दुरुच्छेद है। (१०)

प्रसन्नमास्यं मध्यस्थे, दृशौ लोकम्पृणं वचः ।
इति प्रीतिपदे बाढं, मूढास्त्वय्यप्युदासते ॥११॥

प्रसन्न मुख, मध्यस्थ लोचन और लोकप्रिय वचनो के धारक अत्यन्त प्रेम के स्थान स्वरूप आपके विषय मे भी मूढ लोग उदासीन रहते हैं।(११)

तिष्ठेद्वायुर्द्रवेदद्रि –र्ज्वलेज्जलमपि क्वचित् ।
तथापि ग्रस्तो रागाद्यै –र्नाप्तो भवितुमर्हति ॥१२॥

कदाचित् वायु स्थिर हो जाये, पर्वत पिघल जाये और जल जाज्वल्यमान हो जाये, तो भी राग आदि से ग्रस्त पुरुष आप्त होने के योग्य नही है। (१२)

—०—

सातवा प्रकाश

धर्माधर्मौ विना नाङ्गं, विनाङ्गेन मुखं कुतः ।
मुखाद्विना न वक्तृत्वं, तच्छास्तारः परे कथम् ? ॥१॥

धर्म और अधर्म विहीन देह नही होता, देह के बिना मुह नही होता और मुह के बिना वाणी नही होती। तो फिर धर्म, अधर्म और देह आदि से रहित अन्य देव उपदेशक कैसे हो सकते है ? (१)

अदेहस्य जगत्सर्गे, प्रवृत्तिरपि नोचिता ।
न च प्रयोजन किंचित्, स्वातन्त्र्या(त्र्या)न्न पराज्ञया ॥२॥

देह रहित के लिये जगत् का सृजन करने की प्रवृत्ति भी उचित नही है, कृतकृत्य होने से सृजन करने का कोई प्रयोजन नही है और स्वतन्त्र होने से दूसरे की आज्ञा पर भी चलना नही है। (२)

क्रीडया चेत्प्रवर्त्तेत, रागवान् स्यात कुमारवत् ।
कृपयाऽथ सृजेत्तर्हि, सुख्येव सकल सृजेत् ॥३॥

क्रीडा के लिये यदि प्रवृत्त हो तो बालक की तरह रागी सिद्ध होगा और यदि कृपा से करे तो समस्त जगत् को सुखी ही करे। (३)

दु खदौर्गत्यदुर्योनि -जन्मादिक्लेशविह्वलम् ।
जन तु सृजतस्तस्य, कृपालो का कृपालुता ? ॥४॥

दु ख, दुर्गति और दुष्ट योनियो मे जन्म आदि के क्लेश से विह्वल जगत् का सृजन करने वाले उस कृपालु की कृपा कहा रही ? (४)

कर्मापेक्ष. स चेत्तर्हि, न स्वतन्त्रोऽस्मदादिवत् ।
कर्मजन्ये च वैचित्र्ये, किमनेन शिखण्डिना ? ॥५॥

दु ख आदि देने मे यदि वह प्राणियो के कर्म की अपेक्षा रखता है तो वह हमारी-तुम्हारी तरह स्वतन्त्र नही है, यही सिद्ध होता है और जगत् की विचित्रता यदि कर्म - जनित है तो शिखण्डी की तरह उसको बीच में लाने की भी क्या आवश्यकता है ? (५)

अथ स्वभावतो वृत्ति -रवितर्क्या महेशितु ।
परीक्षकाणा तर्ह्येष, परीक्षाक्षेपडिण्डिम· ॥६॥

और यदि महेश्वर की यह प्रवृत्ति स्वभाव से ही है किन्तु तर्क करने योग्य नही है, इस प्रकार कहोगे तो वह परीक्षको को परीक्षा करने का निषेध करने के लिये ढोल बजाने के समान है। (६)

सर्वभावेषु कर्तृत्व, ज्ञातृत्व यदि सम्मतम् ।
मत न· सन्ति सर्वज्ञा, मुक्ता कायभृतोऽपि च ॥७॥

समस्त पदार्थों का ज्ञातृत्व ही यदि कर्तृत्व है तो उस बात से हम भी सहमत हैं, क्योकि हमारा यह मत है कि सर्वज्ञ, मुक्त-देह रहित (सिद्ध) है और देहधारी (अरिहन्त) भी है। (७)

सृष्टिवादकुहेवाक –मुन्मुच्यत्यप्रमाणकम्।
त्वच्छासने रमन्ते ते, येषां नाथ! प्रसीदसि ॥८॥

हे नाथ! जिनके ऊपर आप प्रसन्न हैं, वे आत्मा, प्रमाण रहित सृष्टिवाद का दुराग्रह छोड कर आपके शासन मे रमण करते है। (८)

—०—

आठवा प्रकाश

सत्त्वस्यैकान्तनित्यत्वे, कृतनाशाकृतागमौ।
स्यातामेकान्तनाशेऽपि, कृतनाशाकृतागमौ ॥१॥

पदार्थ की एकान्त नित्यता मानने मे कृतनाश एव अकृतागम नामक दो दोष है। एकान्त अनित्यता मानने मे भी कृतनाश एव अकृतनाश नामक दो दोष विद्यमान है। (१)

आत्मन्येकान्तनित्ये स्यान्न भोगः सुखदु खयोः।
एकान्तानित्यरूपेऽपि, न भोगः सुखदुःखयो ॥२॥

आत्मा को एकान्त नित्य मानने मे सुख - दु ख का भोग घटता नही है। एकान्त अनित्य स्वरूप मानने मे भी सुख - दु ख का भोग घटता नही है। (२)

पुण्यपापे बन्धमोक्षौ, न नित्यैकान्तदर्शने।
पुण्यपापे बन्धमोक्षौ, नानित्यैकान्तदर्शने ॥३॥

एकान्त नित्य दर्शन मे पुण्य - पाप और बन्ध - मोक्ष घटते नही है। एकान्त अनित्य दर्शन मे भी पुण्य - पाप और बध-मोक्ष घटते नही हैं। (३)

क्रमाक्रमाभ्यां नित्यानां, युज्यतेऽर्थक्रिया न हि।
एकान्तक्षणिकत्वेऽपि, युज्यतेऽर्थक्रिया न हि ॥४॥

नित्य पदार्थो मे क्रम से अथवा विना क्रम से अर्थ-क्रिया घटती नही है और एकान्त क्षणिक पक्ष मे भी क्रम से अथवा क्रम के विना अर्थक्रिया घटती ही नही है । (४)

यदा तु नित्यानित्यत्व –रूपता वस्तुनो भवेत् ।
यथार्थ भगवन्नेव, तदा दोषोऽस्ति कश्चन ॥५॥

हे भगवन् ! आपके कथनानुसार यदि वस्तु की नित्यानित्यता हो तो किसी भी प्रकार का दोष नही आता है । (५)

गुडो हि कफहेतुः स्यान्नागर पित्तकारणम् ।
द्वयात्मनि न दोषोऽस्ति, गुडनागरभेषजे ॥६॥

गुड मे कफ उत्पन्न होता है और सोठ से पित्त होता है । जब गुड और सोठ मिश्रित कर ली जायें तब दोष नही रहता, किन्तु भेषज(औषधि) स्वरूप हो जाता है । (६)

द्वय विरुद्ध नैकत्राऽसत्प्रमाणप्रसिद्धितः ।
विरुद्धवर्णयोगो हि, दृष्टो मेचकवस्तुषु ॥७॥

इसी प्रकार से एक वस्तु मे नित्यत्व एव अनित्यत्व दो विरुद्ध धर्मो का रहना भी विरुद्ध नही है । प्रत्यक्ष आदि किसी भी प्रमाण से उसमे विरोध सिद्ध नही हो सकता, क्योकि मेचक (कावडचीती) वस्तुओ मे विरुद्ध वर्णो का सयोग प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है । (७)

विज्ञानस्यैकमाकार, नानाकारकरम्बितम् ।
इच्छस्तथागत. प्राज्ञो, नानेकान्त प्रतिक्षिपेत् ॥८॥

विचित्र आकार रहित विज्ञान एक आकार वाला है । यह स्वीकार करने वाला प्राज्ञ बौद्ध भी अनेकान्तवाद का उत्थापन नही कर सकता । (८)

चित्रमेकमनेक च, रूपं प्रामाणिक वदन् ।
योगो वैशेषिको वाऽपि, नानेकान्त प्रतिक्षिपेत् ॥९॥

एक चित्ररूप, अनेक रूप युक्त प्रमाण सिद्ध है यह कहने वाला योग अथवा वैशेषिक अनेकान्तवाद का उत्थापन नही कर सकता । (९)

इच्छन्प्रधानं सत्त्वाद्यैर्विरुद्धैर्गुम्फितं गुणैः ।
साख्यः संख्यावतां मुख्यो, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ।।१०।।

सतोगुण, रजोगुण आदि विरुद्ध गुणो से गुम्फित एक प्रधान (प्रकृति) का चाहक विद्वानो मे मुख्य साख्य भी अनेकान्तवाद का उत्थापन नही कर सकता । (१०)

विमतिस्सम्मतिर्वापि, चार्वाकस्य न मृग्यते ।
परलोकात्ममोक्षेषु , यस्य मुह्यति शेमुषी ।।११।।

परलोक, आत्मा और मोक्ष आदि प्रमाण सिद्ध पदार्थो के विषय मे भी जिसकी मति उदासीन है ऐसे चार्वाक नास्तिक की विमति है अथवा सम्मति है यह देखने की तनिक भी आवश्यकता नही है । (११)

तेनोत्पाद्व्ययस्थेम - सम्मिश्रं गोरसादिवत् ।
त्वदुपज्ञ कृतधियः, प्रपन्ना वस्तुतस्तु सत् ।।१२।।

उस कारण से बुद्धिमान पुरुष समस्त सत् पदार्थो को आपके कथनानुसार गोरस आदि की तरह उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से मिश्रित मानते है । (१२)

—०—

नवा प्रकाश

यत्राऽल्पेनाऽपि कालेन, त्वद्भक्तेः फलमाप्यते ।
कलिकालः स एकोऽस्तु, कृतं कृतयुगादिभिः ।।१।।

जहा अल्पकाल मे आपकी भक्ति का फल प्राप्त किया जा सकता है वह केवल एक कलियुग ही स्पृहणीय हो, कृतयुग आदि अन्य युगो को जाने दो । (१)

सुषमातो दु षमायां, कृपा फलवती तव ।
मेरुतो मरुभूमौ हि, श्लाघ्या कल्पतरोः स्थितिः ।।२।।

सुषम काल की अपेक्षा दु षम कलिकाल मे आपकी कृपा अधिक फलवती है । मेरु पर्वत की अपेक्षा मरुभूमि मे कल्पवृक्ष की स्थिति अधिक प्रशसनीय है । (२)

श्राद्ध श्रोता सुधीर्वक्ता, युज्येयाताा यदीश ! तत् ।
त्वच्छासनस्य साम्राज्य -मेकच्छत्र कलावपि ।।३।।

हे ईश ! श्रद्धावान श्रोता एव बुद्धिमान वक्ता दोनो का योग हो जाये तो इस कलियुग मे भी आपके शासन का एकछत्र साम्राज्य है। (३)

युगान्तरेऽपि चेन्नाथ ! भवन्त्युच्छृङ्खलाः खला ।
वृथैव तर्हि कुप्यामः, कलये वामकेलये ।।४।।

हे नाथ! अन्य कृतयुग आदि मे भी गोशाला जैसे उच्छृखल व्यक्ति होते है तो फिर अयोग्य क्रीडा वाले इस कलियुग के ऊपर हम व्यर्थ ही कुपित होते हैं। (४)

कल्याणसिद्धयै साधीयान् कलिरेव कषोपलः ।
विनाऽग्नि गन्धमहिमा, काकतुण्डस्य नैधते ।।५।।

कल्याण की सिद्धि के लिये इस कलियुग रूपी कसौटी का पत्थर ही श्रेष्ठ है। अग्नि के बिना काकतुण्ड (अगर) धूप के गन्ध की महिमा मे वृद्धि नही होती। (५)

निशि दीपोऽम्बुधौ द्वीप, मरौ शाखी हिमे शिखी ।
कलौ दुरापः प्राप्तोऽय, त्वत्पादाब्जरजः कणः ।।६।।

रात्रि में दीपक, सागर में द्वीप, मरु-भूमि मे वृक्ष और शीतकाल में अग्नि की तरह कलियुग मे दुर्लभ आपके चरण-कमलो की रज हमें प्राप्त हुई है। (६)

युगान्तरेषु भ्रान्तोऽस्मि, त्वद्दर्शनविना कृत ।
नमोऽस्तु कलये यत्र, त्वद्दर्शनमजायत ।।७।।

हे नाथ ! अन्य युगो मे आपके दर्शन किये विना ही मैंने ससार में परिभ्रमण किया हैं। अत इस कलियुग को ही नमस्कार है कि जिसमें मुझे आपके दर्शन हुए। (७)

बहुदोषो दोषहीनात्त्वत कलिरशोभत ।
विषयुक्तो विषहरात्फणीन्द्र इव रत्नतः ।।८।।

हे नाथ ! विषाक्त (विषैला) विषधर जिस प्रकार विषहारी रत्न से सुशोभित होता है, उसी प्रकार से अनेक दोषो से युक्त यह कलियुग समस्त दोषो से रहित आपसे शोभायमान है। (८)

—०—

सर्वथा निर्जिगीषेण, भीतभीतेन चागसः ।
त्वया जगत्त्रयं जिग्ये, महतां कापि चातुरी ॥३॥

हे नाथ ! सर्वथा जीतने की अनिच्छा होने पर भी तथा पाप से अत्यन्त भयभीत होते हुए भी आपने तीनो लोको को जीत लिया है। सच-मुच महान आत्माओ की चतुराई कोई अद्भुत ही होती है। (३)

दत्त न किञ्चित्कस्मैचिन्नात्तं किञ्चित्कुतश्चन ।
प्रभुत्वं ते तथाप्येतत्, कला कापि विपश्चिताम् ॥४॥

हे नाथ ! आपने किसी को कुछ (राज्य आदि) दिया नही और किसी से कुछ (दण्ड आदि) लिया नही, तो भी आपका यह प्रभुत्व है जिससे यह लगता है कि कुशल पुरुषो की कला कोई अद्भुत होती है। (४)

यद्देहस्यापि दानेन, सुकृतं नार्जित परै ।
उदासीनस्य तन्नाथ !, पादपीठे तवालुठत् ॥५॥

हे नाथ ! देह का दान देकर भी अन्यो ने जो सुकृत नही कमाया, वह सुकृत उदासीनता से रहने वाले आपके पादपीठ में लेटता रहा। (५)

रागादिषु नृशसेन, सर्वात्मसु कृपालुना ।
भीमकान्तगुणेनोच्चैः, साम्राज्यं साधितं त्वया ॥६॥

हे नाथ ! राग आदि के प्रति क्रूर एव समस्त प्राणियो के प्रति दयालु आपने भयानकता तथा मनोहरता रूपी दो गुणो से महान् साम्राज्य प्राप्त कर लिया है। (६)

सर्वे सर्वात्मनाऽन्येषु, दोषास्त्वयि पुनर्गुणाः ।
स्तुतिस्तवेयं चेन्मिथ्या, तत्प्रमाणं सभासदः ॥७॥

हे नाथ ! पर-तीर्थिको मे समस्त प्रकार के समस्त दोष हैं और आपमे समस्त प्रकार से समस्त गुण हैं। यदि आपकी यह स्तुति मिथ्या हो तो सभासद प्रमाण हैं। (७)

महीयसामपि महान्, महनीयो महात्मनाम् ।
अहो ! मे स्तुवतः स्वामी, स्तुतेर्गोचरमागमत् ॥८॥

अहो ! हर्ष की बात यह है कि बडे से बडे और महात्माओ द्वारा भी पूज्य स्वामी की आज मैं स्तुति कर रहा हूँ। (८)

—०—

द्वय विरुद्धं भगवंस्तव नान्यस्य कस्यचित् ।
निर्ग्रन्थता परा या च, या चोच्चैश्चक्रवर्तिता ॥६॥

हे भगवन् ! श्रेष्ठ निर्ग्रन्थता (नि स्पृहता) और उत्कृष्ट चक्रवर्तित्व (धर्म सम्राट् पदवी) ये दो विरुद्ध बातें आपके अतिरिक्त अन्य किसी भी देव में नही है । (६)

नारका अपि मोदन्ते, यस्य कल्याणपर्वसु ।
पवित्र तस्य चारित्र, को वा वर्णयितु क्षम· ? ॥७॥

अथवा तो जिनके पाचो कल्याणक पर्वों में नारकीय जीव भी सुख प्राप्त करते हैं, उनके पवित्र चारित्र का वर्णन करने मे कौन समर्थ है । (७)

शमोऽद्भुतोऽद्भुत रूप, सर्वात्मसु कृपाद्भुता ।
सर्वाद्भुतनिधीशाय, तुभ्य भगवते नम ॥८॥

अद्भुत समता, अद्भुत रूप और समस्त प्राणियो पर अद्भुत कृपा करने वाले तथा समस्त अद्भुतो के महानिधान हे भगवन् ! आपको नमस्कार हो । (८)

—०—

गयारहवा प्रकाश

निघ्नन्परीषहचमूमुपसर्गान् प्रतिक्षिपन् ।
प्राप्तोऽसि शमसौहित्य, महतां कापि वैदुषी ॥१॥

हे नाथ ! परीषहो को सेना का सहार करने वाले तथा उपसर्गों का तिरस्कार करने वाले आपने समता रूपी अमृत की तृप्ति प्राप्त की है। अहो ! बडो की चतुराई कुछ अद्भुत होती है । (१)

अरक्तो भुक्तवान्मुक्ति -मद्विष्टो हतवान्द्विष. ।
अहो ! महात्मना कोऽपि, महिमा लोकदुर्लभः ॥२॥

हे नाथ ! आप राग-रहित है फिर भी मुक्ति-रमणी का उपभोग करते है और द्वेष-रहित है फिर भी आप आतरिक शत्रुओ का सहार करते हैं । अहो ! लोक मे दुर्लभ महान आत्माओ की महिमा कोई अद्भुत ही होती है । (२)

मत्प्रसत्तेस्त्वत्प्रसादस्त्वत्प्रसादादियं पुनः ।
इत्यन्योन्याश्रय भिन्धि, प्रसीद भगवन् ! मयि ।।१।।

हे भगवन् मेरी प्रसन्नता से आपकी प्रसन्नता और आपकी प्रसन्नता से मेरी प्रसन्नता इस प्रकार के अन्योन्याश्रय दोष का आप भेदन करे और मुझ पर प्रसन्न हो। (१)

निरीक्षितु रूपलक्ष्मीं, सहस्राक्षोऽपि न क्षम ।
स्वामिन् ! सहस्रजिह्वोऽपि, शक्तो वक्तु न ते गुणान् ।।२।।

हे स्वामी ! आपके रूप की शोभा निहारने के लिये हजार नेत्रो वाला (इन्द्र) भी समर्थ नही है तथा आपका गुण-गान करने के लिये हजार जीभ वाला (शेष नाग) भी समर्थ नही है। (२)

सशयान् नाथ ! हरसेऽनुत्तरस्वर्गिणामपि ।
अतः परोऽपि कि कोऽपि, गुण स्तुत्योऽस्ति वस्तुत ।।३।।

हे नाथ ! आप यहा है तो भी अनुत्तर विमान-वासी देवताओ के सशय दूर करते है। अत अन्य कोई भी गुण वस्तुत परमार्थ से स्तुति करने योग्य है ? अर्थात् नही है। (३)

इदं विरुद्ध श्रद्धता, कथमश्रद्दधानकः ! ।
आनन्दं सुखसक्तिश्च, विरक्तिश्च सम त्वयि ।।४।।

अखण्ड आनन्द स्वरूप सुख मे आसक्ति एव सकल सग से विरक्ति ये दो विपरीत वाते आपमे एक साथ विद्यमान है। अश्रद्धालु मनुष्य इस वात की श्रद्धा कैसे करे ? (४)

नाथेयं घट्यमानापि, दुर्घटा घटतां कथम् ? ।
उपेक्षा सर्वसत्त्वेषु, परमा चोपकारिता ।।५।।

हे नाथ ! समस्त प्राणियो से उपेक्षा (राग-द्वेष-रहितता) और परमोपकारिता (सम्यग् दर्शन आदि मोक्ष मार्ग की उपदेशकता) ये दो वाते आप में प्रत्यक्ष प्रतीत होती होने से घटित, फिर भी अन्य देवो मे अघटित हो सकती है ? (५)

द्वयं विरुद्धं भगवस्तव नान्यस्य कस्यचित् ।
निर्ग्रन्थता परा या च, या चोच्चैश्चक्रवर्तिता ॥६॥

हे भगवन् ! श्रेष्ठ निर्ग्रन्थता (नि स्पृहता) और उत्कृष्ट चक्रवर्तित्व (धर्म सम्राट् पदवी) ये दो विरुद्ध बातें आपके अतिरिक्त अन्य किसी भी देव में नही है। (६)

नारका अपि मोदन्ते, यस्य कल्याणपर्वसु ।
पवित्र तस्य चारित्र, को वा वर्णयितु क्षमः ? ॥७॥

अथवा तो जिनके पाचो कल्याणक पर्वो मे नारकीय जीव भी सुख प्राप्त करते हैं, उनके पवित्र चारित्र का वर्णन करने मे कौन समर्थ है। (७)

शमोऽद्भुतोऽद्भुत रूपं, सर्वात्मसु कृपाद्भुता ।
सर्वाद्भुतनिधीशाय, तुभ्य भगवते नम ॥८॥

अद्भुत समता, अद्भुत रूप और समस्त प्राणियो पर अद्भुत कृपा करने वाले तथा समस्त अद्भुतो के महानिधान हे भगवन् ! आपको नमस्कार हो। (८)

—०—

गयारहवा प्रकाश

निघ्नन्परीषहचमूमुपसर्गान् प्रतिक्षिपन् ।
प्राप्तोऽसि शमसौहित्यं, महतां कापि वैदुषी ॥१॥

हे नाथ ! परीषहो की सेना का सहार करने वाले तथा उपसर्गो का तिरस्कार करने वाले आपने समता रूपी अमृत की तृप्ति प्राप्त की है। अहो ! बडो की चतुराई कुछ अद्भुत होती है। (१)

अरक्तो भुक्तवान्मुक्ति -मद्विष्टो हतवान्द्विषः ।
अहो ! महात्मना कोऽपि, महिमा लोकदुर्लभः ॥२॥

हे नाथ ! आप राग-रहित है फिर भी मुक्ति-रमणी का उपभोग करते हैं और द्वेष-रहित हैं फिर भी आप आतंरिक शत्रुओ का सहार करते हैं। अहो ! लोक मे दुर्लभ महान आत्माओ की महिमा कोई अद्भुत ही होती है। (२)

मत्प्रसत्तेस्त्वत्प्रसादस्त्वत्प्रसादादियं पुनः ।
इत्यन्योन्याश्रय भिन्धि, प्रसीद भगवन् ! मयि ॥१॥

हे भगवन् मेरी प्रसन्नता से आपकी प्रसन्नता और आपकी प्रसन्नता से मेरी प्रसन्नता इस प्रकार के अन्योन्याश्रय दोष का आप भेदन करे और मुझ पर प्रसन्न हो । (१)

निरीक्षितु रूपलक्ष्मीं, सहस्राक्षोऽपि न क्षम ।
स्वामिन् ! सहस्रजिह्वोऽपि, शक्तो वक्तु न ते गुणान् ॥२॥

हे स्वामी ! आपके रूप की शोभा निहारने के लिये हजार नेत्रो वाला (इन्द्र) भी समर्थ नही है तथा आपका गुण-गान करने के लिये हजार जीभ वाला (शेष नाग) भी समर्थ नही है। (२)

संशयान् नाथ ! हरसेऽनुत्तरस्वर्गिणामपि ।
अतः परोऽपि किं कोऽपि, गुण स्तुत्योऽस्ति वस्तुत ॥३॥

हे नाथ ! आप यहा है तो भी अनुत्तर विमान-वासी देवताओ के सशय दूर करते है । अत: अन्य कोई भी गुण वस्तुत परमार्थ से स्तुति करने योग्य है ? अर्थात् नही है । (३)

इदं विरुद्धं श्रद्धतां, कथमश्रद्दधानकः ! ।
आनन्दं सुखसक्तिश्च, विरक्तिश्च सम त्वयि ॥४॥

अखण्ड आनन्द स्वरूप सुख मे आसक्ति एव सकल सग से विरक्ति ये दो विपरीत वाते आपमें एक साथ विद्यमान है। अश्रद्धालु मनुष्य इस वात की श्रद्धा कैसे करे ? (४)

नाथेयं घट्यमानापि, दुर्घटा घटतां कथम् ? ।
उपेक्षा सर्वसत्त्वेषु, परमा चोपकारिता ॥५॥

हे नाथ ! समस्त प्राणियो से उपेक्षा (राग-द्वेष-रहितता) और परमोपकारिता (सम्यग् दर्शन आदि मोक्ष मार्ग की उपदेशकता) ये दो वाते आप मे प्रत्यक्ष प्रतीत होती होने से घटित, फिर भी अन्य देवो में अघटित हो सकती है ? (५)

द्वयं विरुद्धं भगवस्तव नान्यस्य कस्यचित् ।
निर्ग्रन्थता परा या च, या चोच्चैश्चक्रवर्तिता ॥६॥

हे भगवन् ! श्रेष्ठ निर्ग्रन्थता (नि स्पृहता) और उत्कृष्ट चक्रवर्तित्व (धर्म सम्राट् पदवी) ये दो विरुद्ध बातें आपके अतिरिक्त अन्य किसी भी देव मे नही है। (६)

नारका अपि मोदन्ते, यस्य कल्याणपर्वसु ।
पवित्र तस्य चारित्रं, को वा वर्णयितुं क्षमः ? ॥७॥

अथवा तो जिनके पाचो कल्याणक पर्वों में नारकीय जीव भी सुख प्राप्त करते हैं, उनके पवित्र चारित्र का वर्णन करने में कौन समर्थ है। (७)

शमोऽद्भुतोऽद्भुत रूपं, सर्वात्मसु कृपाद्भुता ।
सर्वाद्भुतनिधीशाय, तुभ्य भगवते नम ॥८॥

अद्भुत समता, अद्भुत रूप और समस्त प्राणियो पर अद्भुत कृपा करने वाले तथा समस्त अद्भुतो के महानिधान हे भगवन् ! आपको नमस्कार हो। (८)

—०—

गयारहवा प्रकाश

निघ्नन्परीषहचमूमुपसर्गान्   प्रतिक्षिपन् ।
प्राप्तोऽसि शमसौहित्य, महतां कापि वैदुषी ॥१॥

हे नाथ ! परीषहो की सेना का सहार करने वाले तथा उपसर्गों का तिरस्कार करने वाले आपने समता रूपी अमृत की तृप्ति प्राप्त की है। अहो ! बडो की चतुराई कुछ अद्भुत होती है। (१)

अरक्तो भुक्तवान्मुक्ति –मद्विष्टो हतवान्द्विष· ।
अहो ! महात्मना कोऽपि, महिमा लोकदुर्लभः ॥२॥

हे नाथ ! आप राग-रहित हैं फिर भी मुक्ति-रमणी का उपभोग करते हैं और द्वेष-रहित हैं फिर भी आप आतरिक शत्रुओ का सहार करते हैं। अहो ! लोक मे दुर्लभ महान आत्माओ की महिमा कोई अद्भुत ही होती है। (२)

सर्वथा निर्जिगीषेण, भीतभीतेन चागसः ।
त्वया जगत्त्रयं जिग्ये, महतां कापि चातुरी ॥३॥

हे नाथ ! सर्वथा जीतने की अनिच्छा होने पर भी तथा पाप से अत्यन्त भयभीत होते हुए भी आपने तीनो लोको को जीत लिया है। सच-मुच महान आत्माओ की चतुराई कोई अद्भुत ही होती है। (३)

दत्त न किञ्चित्कस्मैचिन्नात्तं किञ्चित्कुतश्चन ।
प्रभुत्वं ते तथाप्येतत्, कला कापि विपश्चिताम् ॥४॥

हे नाथ ! आपने किसी को कुछ (राज्य आदि) दिया नही और किसी से कुछ (दण्ड आदि) लिया नही, तो भी आपका यह प्रभुत्व है जिससे यह लगता है कि कुशल पुरुषो की कला कोई अद्भुत होती है। (४)

यद्देहस्यापि दानेन, सुकृतं नार्जित परैः ।
उदासीनस्य तन्नाथ !, पादपीठे तवालुठत् ॥५॥

हे नाथ ! देह का दान देकर भी अन्यो ने जो सुकृत नही कमाया, वह सुकृत उदासीनता से रहने वाले आपके पादपीठ में लेटता रहा। (५)

रागादिषु नृशसेन, सर्वात्मसु कृपालुना ।
भीमकान्तगुणेनोच्चैः, साम्राज्य साधितं त्वया ॥६॥

हे नाथ ! राग आदि के प्रति क्रूर एव समस्त प्राणियो के प्रति दयालु आपने भयानकता तथा मनोहरता रूपी दो गुणो से महान् साम्राज्य प्राप्त कर लिया है। (६)

सर्वे सर्वात्मनाऽन्येषु, दोषास्त्वयि पुनर्गुणाः ।
स्तुतिस्तवेयं चेन्मिथ्या, तत्प्रमाणं सभासदः ॥७॥

हे नाथ ! पर-तीर्थिको मे समस्त प्रकार के समस्त दोष हैं और आपमे समस्त प्रकार से समस्त गुण हैं। यदि आपकी यह स्तुति मिथ्या हो तो सभासद प्रमाण है। (७)

महीयसामपि महान्, महनीयो महात्मनाम् ।
अहो ! मे स्तुवतः स्वामी, स्तुतेर्गोचरमागमत् ॥८॥

अहो ! हर्ष की बात यह है कि बड़े से बडे और महात्माओ द्वारा भी पूजनीय स्वामी की आज मैं स्तुति कर रहा हूँ। (८)

—o—

पट्वभ्यासादरैः पूर्वं, तथा वैराग्यमाहरः ।
यथेह जन्मन्याजन्म, तत्सात्मीभावमागमत् ॥१॥

हे नाथ ! पूर्वभवो मे आदर पूर्वक के सुन्दर अभ्यास से आपने उस प्रकार का वैराग्य प्राप्त किया था कि जिससे आपको इस (चरम) भव मे जन्म से ही सहज वैराग्य प्राप्त हुआ है। साराश यह है कि आप जन्म से ही विरागी हैं। (१)

दु.खहेतुषु वैराग्य, न तथा नाथ ! निस्तुषम् ।
मोक्षोपायप्रवीणस्य, यथा ते सुखहेतुषु ॥२॥

हे नाथ ! मोक्ष प्राप्ति के उपाय मे प्रवीण आपको, सुख-हेतुओ मे जिस प्रकार का वैराग्य होता है, उसी प्रकार का वैराग्य दुःख-हेतुओ मे नही होता, क्योकि दु ख-हेतु वाला वैराग्य क्षणिक होने से भव-साधक है और सुख - हेतु वैराग्य निश्चल होने से मोक्ष - साधक है। (२)

विवेकशाणैर्वैराग्य, -शस्त्र शातं त्वया तथा ।
यथा मोक्षेऽपि तत्साक्षा -दकुण्ठितपराक्रम् ॥३॥

हे नाथ ! आपने विवेक रूपी शराण से वैराग्य रूपी शस्त्र को उस प्रकार से घिस कर तीक्ष्ण किया है कि जिससे मोक्ष के लिये भी उस वैराग्य रूपी शस्त्र का पराक्रम साक्षात् अकुण्ठित रहा। (३)

यदामरुन्नरेन्द्रश्री -स्त्वया नाथोपभुज्यते ।
यत्र तत्र रतिर्नाम, विरक्तत्व तदापि ते ॥४॥

हे नाथ ! जब आप पूर्व भव मे देव-ऋद्धि का और मनुष्य भव मे राज्य ऋद्धि का उपभोग करते हैं तब भी जहा जहा आपकी रति(आसक्ति) प्रतीत होती है वह भी विरक्ति होती है, क्योकि उस ऋद्धि का उपभोग करते हुए भी भोग-फल वाले कर्म का विना भोगे हुए क्षय नही होगा यह सोचकर आप अनासक्ति से ही उपभोग करते है।[1] (४)

---

1 इस श्लोक मे भगवान के पूर्व भव तथा राज्य अवस्था की वैराग्य दशा का वर्णन है।

अनुक्षित - फलोदग्रा -दनिपातगरीयसः ।
असङ्कल्पितकल्पद्रो, -स्त्वत्तः फलमवाप्नुयाम् ॥५॥

समस्त वृक्ष जल-सिचन से ही समय पर फल देते हैं, गिरने पर ही अत्यन्त बोझ वाले होते हैं और प्रार्थना करने से ही वाछित वस्तु प्रदान करते है, परन्तु आप तो सिचन किये बिना ही उदग्र-परिपूर्ण फल-दायक, गिरे बिना ही अर्थात् स्व-स्वरूप मे रहने से ही गौरवपूर्ण तथा प्रार्थना किये बिना ही वाछित प्रदान करने वाले है। ऐसे (अपूर्व) कल्प-वृक्ष स्वरूप आपसे मै फल प्राप्त करता हूँ। (५)

असङ्गस्य जनेशस्य, निर्ममस्य कृपात्मनः ।
मध्यस्थस्य जगत्त्रातु -रनङ्कस्तेऽस्मि किङ्करः ॥६॥

इस श्लोक मे परस्पर विरुद्ध विशेषण बताये है। जो सगरहित होता है वह लोक का स्वामी नही होता, जो ममता रहित हो वह किसी पर कृपा नही करता और जो मध्यस्थ-उदासीन हो वह अन्य की रक्षा नही करता; परन्तु आप तो समस्त सग के त्यागी होते हुए भी जगत् के लोगो के द्वारा सेव्य होने के कारण जनेश है, ममता रहित होते हुए भी जगत् के समस्त प्राणियो पर कृपा करने वाले हैं, राग-द्वेष का नाश किया हुआ होने से मध्यस्थ – उदासीन होते हुए भी एकान्त हितकारी धर्म का उपदेश देने से ससार से त्रस्त जगत् के जीवो के रक्षक है। उपर्युक्त विशेषणो से युक्त चिन्ह – कुग्रह रूपी कलक रहित आपका मैं सेवक हूँ। (जो सेवक होता है वह तलवार, बन्दूक आदि किसी चिन्ह से युक्त होता है।) (६)

अगोपिते रत्ननिधा -ववृते कल्पपादपे ।
अचिन्त्ये चिन्तारत्ने च, त्वय्यात्माऽयं मयार्पितः ॥७॥

नही छिपाये हुए रत्न के निधि के समान, कर्मरूपी बाड से अपरिवृत कल्पवृक्ष के समान और अचिन्तनीय चिन्तामणि रत्न के समान आपको (आपके चरण-कमलो में) मैंने अपनी यह आत्मा समर्पित कर दी है। (७)

फलानुध्यानवन्ध्योऽहं, फलमात्रतनुर्भवान् ।
प्रसीद यत्कृत्यविधौ, किंकर्तव्यजडे मयि ॥८॥

हे नाथ ! आप सिद्धत्व स्वरूप फल वाले केवल देह युक्त है। मैं ज्ञान आदि के फल सिद्धत्व के यथावस्थित स्मरण से भी रहित हू। अत मैं क्या करू ? इस विषय मे मैं जड (मूढ) हू। मुझ पर कृपा करके आप मुझे करने योग्य विधि बताने की कृपा करे। (८)

—०—

चौदहवां प्रकाश

मनोवच काय-चेष्टा , कष्टा संहृत्य सर्वथा ।
श्लथत्वेनैव भवता, मनःशल्यं वियोजितम् ।।१।।

मन, वचन, काया की सावद्य चेष्टाओ का सर्वथा परित्याग करके आपने स्वभाव से ही (शिथिलता से ही) मन रूपी शल्य को दूर किया है। (१)

सयतानि न चाक्षाणि, नैवोच्छृङ्खलितानि च ।
इति सम्यक् प्रतिपदा, त्वयेन्द्रियजय कृतः ।।२।।

हे प्रभु ! आपने बल पूर्वक इन्द्रियो को नियन्त्रित नही की तथा लोलुपता से उन्हे स्वतन्त्र भी नही छोडी, परन्तु यथावस्थित वस्तु तत्त्व को अगीकार करने वाले आपने सम्यक् प्रकार से कुशलता पूर्वक इन्द्रियो पर विजय प्राप्त की है। (२)

योगस्याष्टाङ्गता नून, प्रपञ्चः कथमन्यथा ? ।
आबालभावतोऽप्येष, तव सात्म्यमुपेयिवान् ।।३।।

हे योग रूपी समुद्र का पार पाये हुए भगवन् ! यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के आठ अङ्ग बताये गये हैं। वे केवल प्रपच (विस्तार) प्रतीत होते है, क्योकि यदि ऐसा नही हो तो आपको बाल्यावस्था से ही ये योग स्वाभाविक रीति से ही क्यो प्राप्त हो ? अर्थात् यह योग प्राप्ति का क्रम सामान्य योगियो की अपेक्षा से है। आप तो योगियो के भी नाथ हैं, अत आपके लिये ऐसा होने मे कोई आश्चर्य नही है। (३)

विषयेषु विरागस्ते, चिर सहचरेष्वपि ।
योगे सात्म्यदृष्टेऽपि, स्वामिन्निदमलौकिकम् ।।४।।

दीर्घकाल से परिचित विषयो के प्रति भी आपको वैराग्य है और कदापि नही देखे हुए योग के लिये तन्मयता है। हे स्वामी ! आपका यह चरित्र कोई अलौकिक है। (४)

अनुक्षित - फलोदग्रा -दनिपातगरीयसः ।
असङ्कल्पितकल्पद्रो, -स्त्वत्तः फलमवाप्नुयाम् ॥५॥

समस्त वृक्ष जल-सिंचन से ही समय पर फल देते है, गिरने पर ही अत्यन्त बोझ वाले होते हैं और प्रार्थना करने से ही वाछित वस्तु प्रदान करते है, परन्तु आप तो सिंचन किये बिना ही उदग्र-परिपूर्ण फल-दायक, गिरे बिना ही अर्थात् स्व-स्वरूप मे रहने से ही गौरवपूर्ण तथा प्रार्थना किये बिना ही वाछित प्रदान करने वाले हैं। ऐसे (अपूर्व) कल्प-वृक्ष स्वरूप आपसे मै फल प्राप्त करता हूँ। (५)

असङ्गस्य जनेशस्य, निर्ममस्य कृपात्मनः ।
मध्यस्थस्य जगत्त्रातु -रनङ्कस्तेऽस्मि किङ्करः ॥६॥

इस श्लोक मे परस्पर विरुद्ध विशेषण बताये है। जो सगरहित होता है वह लोक का स्वामी नही होता, जो ममता रहित हो वह किसी पर कृपा नही करता और जो मध्यस्थ-उदासीन हो वह अन्य की रक्षा नही करता; परन्तु आप तो समस्त सग के त्यागी होते हुए भी जगत् के लोगो के द्वारा सेव्य होने के कारण जनेश है, ममता रहित होते हुए भी जगत् के समस्त प्राणियो पर कृपा करने वाले है, राग-द्वेष का नाश किया हुआ होने से मध्यस्थ – उदासीन होते हुए भी एकान्त हितकारी धर्म का उपदेश देने से ससार से त्रस्त जगत् के जीवो के रक्षक हैं। उपर्युक्त विशेषणो से युक्त चिन्ह – कुग्रह रूपी कलक रहित आपका मैं सेवक हूँ। (जो सेवक होता है वह तलवार, बन्दूक आदि किसी चिन्ह से युक्त होता है।) (६)

अगोपिते रत्ननिधा -ववृते कल्पपादपे ।
अचिन्त्ये चिन्तारत्ने च, त्वय्यात्माऽयं मयार्पितः ॥७॥

नही छिपाये हुए रत्न के निधि के समान, कर्मरूपी वाड से अपरिवृत कल्पवृक्ष के समान और अचिन्तनीय चिन्तामणि रत्न के समान आपको (आपके चरण-कमलो में) मैंने अपनी यह आत्मा समर्पित कर दी है। (७)

फलानुध्यानवन्ध्योऽहं, फलमात्रतनुर्भवान् ।
प्रसीद यत्कृत्यविधौ, किंकर्तव्यजडे मयि ॥८॥

हे नाथ ! आप सिद्धत्व स्वरूप फल वाले केवल देह युक्त हैं। मैं ज्ञान आदि के फल सिद्धत्व के यथावस्थित स्मरण से भी रहित हू। अत मैं क्या करू ? इस विषय मे मैं जड (मूढ) हू। मुझ पर कृपा करके आप मुझे करने योग्य विधि बताने की कृपा करें। (८)

—०—

चौदहवा प्रकाश

मनोवच काय-चेष्टा , कष्टा सहृत्य सर्वथा ।
श्लथत्वेनैव भवता, मनःशल्य वियोजितम् ।।१।।

मन, वचन, काया की सावद्य चेष्टाओ का सर्वथा परित्याग करके आपने स्वभाव से ही (शिथिलता से ही) मन रूपी शल्य को दूर किया है। (१)

संयतानि न चाक्षाणि, नैवोच्छृङ्खलितानि च ।
इति सम्यक् प्रतिपदा, त्वयेन्द्रियजय कृतः ।।२।।

हे प्रभु ! आपने बल पूर्वक इन्द्रियो को नियन्त्रित नही की तथा लोलुपता से उन्हे स्वतन्त्र भी नही छोडी, परन्तु यथावस्थित वस्तु तत्त्व को अगीकार करने वाले आपने सम्यक् प्रकार से कुशलता पूर्वक इन्द्रियो पर विजय प्राप्त की है। (२)

योगस्याष्टाङ्गता नून, प्रपञ्चः कथमन्यथा ? ।
आबालभावतोऽप्येष, तव सात्म्यमुपेयिवान् ।।३।।

हे योग रूपी समुद्र का पार पाये हुए भगवन् ! यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के आठ अङ्ग बताये गये हैं। वे केवल प्रपच (विस्तार) प्रतीत होते हैं, क्योकि यदि ऐसा नही हो तो आपको बाल्यावस्था से ही ये योग स्वाभाविक रीति से ही क्यो प्राप्त हो ? अर्थात् यह योग प्राप्ति का क्रम सामान्य योगियो की अपेक्षा से है। आप तो योगियो के भी नाथ हैं, अत आपके लिये ऐसा होने मे कोई आश्चर्य नही है। (३)

विषयेषु विरागस्ते, चिर सहचरेष्वपि ।
योगे सात्म्यदृष्टेऽपि, स्वामिन्निदमलौकिकम् ।।४।।

दीर्घकाल से परिचित विषयो के प्रति भी आपको वैराग्य है और कदापि नही देखे हुए योग के लिये तन्मयता है। हे स्वामी ! आपका यह चरित्र कोई अलौकिक है। (४)

तथा परे न रज्यन्त, उपकारपरे परे ।
यथाऽपकारिणि भवा -नहो ! सर्वमलौकिकम् ॥५॥

उपकार करने मे तत्पर भक्तो पर भी अन्य देव उतने प्रसन्न नही होते जितने प्रसन्न आप आपका अपकार करने वाले (कमठ, गोशाला आदि) प्राणियो पर होते हैं। अहो ! आपका समस्त अलौकिक है। (५)

हिंसका अप्युपकृता, आश्रिता अप्युपेक्षिताः ।
इदं चित्रं चरित्र ते, के वा पर्यनुयुञ्जताम् ? ॥६॥

हे वीतराग ! (चण्डकौशिक आदि) हिंसको पर आपने उपकार किया है और (सर्वानुभूति तथा सुनक्षत्रमुनि आदि) आश्रितो की आपने उपेक्षा की है। आपके इस विचित्र चरित्र के विरुद्ध प्रश्न भी कौन उठा सकता है।(६)

तथा समाधौ परमे, त्वयात्माविनिवेशितः ।
सुखी दुःख्यस्मि नास्मीति, यथा न प्रतिपन्नवान् ॥७॥

आपने अपनी आत्मा को परम समाधि मे उस प्रकार स्थापित कर दी है कि जिससे मै सुखी हू अथवा नही ? अथवा मैं दुःखी हू अथवा नही, इसका भी आपको ध्यान न रहा, उसका ज्ञान होने की आपने तनिक भी परवाह तक नही की। (७)

ध्याता ध्येयं तथा ध्यानं, त्रयमेकात्मतां गतम् ।
इति ते योगमाहात्म्यं, कथ श्रद्धीयतां परै ? ॥८॥

ध्याता, ध्येय और ध्यान तीनो आपमे अभेद रूप मे है। इस प्रकार के आपके योग के माहात्म्य मे अन्य किस प्रकार श्रद्धा कर सकते है ? (८)

—o—

पन्द्रहवा प्रकाश

जगज्जैत्रा गुणास्त्रात -रन्ये तावत्तवासताम् ।
उदात्तशान्तया जिग्ये, मुद्रयैव जगत्त्रयी ॥१॥

हे जग-रक्षक ! जगत को जीतने वाले आपके अन्य गुण तो दूर रहे परन्तु आपकी उदात्त (पराजित न कर सकें वैसी) एव शान्त मुद्रा ने ही तीनो लोको पर विजय प्राप्त कर ली है। (१)

मेरुस्तृणीकृतो मोहात्, पयोधिर्गोष्पदीकृतः ।
गरिष्ठेभ्यो गरिष्ठो यैः, पाप्मभिस्त्वमपोहितः ।।२।।

हे नाथ ! इन्द्र आदि से भी महान् आपका जिन्होने अनादर किया है उन्होने अज्ञान से मेरु को तृण के समान समझा है और समुद्र को गाय के खुर के समान माना है । (२)

च्युतश्चिन्तामणिः पाणे –स्तेषां लब्धा सुधा सुधा ।
यैस्त्वच्छासनसर्वस्व –मज्ञानैर्नात्मसात्कृतम् ।।३।।

जिन अज्ञानियो ने आपके शासन का सर्वस्व (धन) अपने अधीन नही किया, उनके हाथ से चिन्तामणि रत्न गिर पडा है और प्राप्त हुआ अमृत व्यर्थ गया है। (३)

यस्त्वय्यपि दधौ दृष्टि –मुल्मुकाकारधारिणीम् ।
तमाशुशुक्षणिः साक्षा –दालप्यालमिद हि वा ।।४।।

हे भगवन् ! आपके लिये भी जो मनुष्य जलते उल्मुक के आकार को धारण करने वाली दृष्टि रखते हैं उन्हे साक्षात् अग्नि जला डाले अथवा ऐसा वचन नही कहना ही उत्तम है । (४)

त्वच्छासनस्य साम्य ये, मन्यन्ते शासनान्तरैः ।
विषेण तुल्य पीयूष, तेषा हन्त ! हतात्मनाम् ।।५।।

हे नाथ ! खेद की बात है कि जो आपके शासन को अन्य शासनो के समान मानते हैं उन अज्ञानियो के लिये अमृत भी विष के समान है । (५)

अनेडमूका भूयासु –स्ते येषां त्वयि मत्सर ।
शुभोदर्काय वैकल्य –मपि पापेषु कर्मसु ।।६।।

हे नाथ ! जिन्हे आपके प्रति ईर्षा है वे बहरे और गूंगे हो जायें, क्योकि पर-निन्दा का श्रवण एव उच्चारण आदि पाप-कार्यों मे इन्द्रियो की रहितता शुभ परिणाम के लिये ही है, अर्थात् कान एव जीभ के अभाव मे आपकी निन्दा का श्रवण एव उच्चारण नही कर सकने से वे दुर्गति मे नही जायेंगे, यह उन्हें भविष्य मे महान् लाभ है । (६)

तेभ्यो नमोऽञ्जलिरयं, तेषां तान्समुपास्महे ।
त्वच्छासनामृतरसै -र्यैरात्माऽसिच्यतान्वहम् ॥७॥

हे नाथ ! आपके शासन रूपी अमृत रस से जिन्होने अपनी आत्मा का सदा सिचन किया है, उन्हे हमारा नमस्कार हो। उन्हे हम दो हाथ जोडते हैं और उनकी हम उपासना करते है। (७)

भुवे तस्यै नमो यस्या, तव पादनखांशवः ।
चिरं चूडामणीयन्ते, ब्रूमहे किमतः परम् ? ॥८॥

हे नाथ ! उस भूमि को भी नमस्कार हो जहा आपके चरणो के नाखूनो की किरणे चिरकाल तक चूडामणि के समान सुशोभित होती है। इससे अधिक हम क्या कहे ? (८)

जन्मवानस्मि धन्योऽस्मि, कृतकृत्योऽस्मि यन्मुहु ।
जातोऽस्मि त्वद्गुणग्राम -रामणीयकलम्पटः ॥९॥

हे नाथ ! आपके गुण समूह की रमणीयता मे मैं बार-बार तन्मय हुआ हूँ जिससे मेरा जन्म सफल है, मैं धन्य हूँ, कृतकृत्य हूँ। (९)

—o—

सोलहवाँ प्रकाश

त्वन्मतामृतपानोत्था, इतः शमरसोर्मय ।
पराणयन्ति मां नाथ !, परमानन्दसम्पदम् ॥१॥

हे नाथ ! एक ओर आपके आगम रूपी अमृत के पान से उत्पन्न उपशम रस की तरगे मुझे बलपूर्वक मोक्ष की सम्पदा प्राप्त कराती हैं। (१)

इतश्चानादिसंस्कार -मूर्च्छितो मूर्च्छयत्यलम् ।
रागोरगविषावेगो, हताशः करवाणि किम् ? ॥२॥

तथा दूसरी ओर अनादिकालीन सस्कार से उत्पन्न राग रूपी उरग (साँप) के विष का वेग मुझे मूर्च्छित कर देता है –मोहित कर देता है। विनष्ट आशा वाला मैं अब क्या करू ? (२)

रागाहिगरलाघ्रातोऽकार्षं यत्कर्मवैशसम् ।
तद्वक्तुमप्यशक्तोऽस्मि, धिग् मे प्रच्छन्नपापताम् ॥३॥

हे नाथ ! राग रूपी साँप के विप से व्याप्त मैंने जो अयोग्य कार्य किये हैं, उनका वर्णन करने मे भी मैं समर्थ नही हूँ । अत मेरे प्रच्छन्न पापो को धिक्कार है । (३)

क्षण सक्त. क्षण मुक्त , क्षण क्रुद्धः क्षणं क्षमी ।
मोहाद्यै· क्रीडयैवाह, कारितः कपिचापलम् ॥४॥

हे प्रभु ! मैं क्षण भर सासारिक सुखो मे आसक्त हुआ हूँ तो क्षण भर उक्त सुख के विपाक का विचार करने से विरक्त हुआ हूँ; क्षण भर क्रोधी हुआ हूँ तो क्षण भर के लिये क्षमाशील हुआ हूँ । इस प्रकार की चपल क्रीडाओ से ही मोह आदि मदारियो ने मुझे बन्दर की तरह नचाया है । (४)

प्राप्यापि तव सम्बोधि, मनोवाक्कायकर्मजैः ।
दुश्चेष्टितैर्मया नाथ !, शिरसि ज्वालितोऽनल ॥५॥

हे नाथ ! आपका धर्म पाकर भी मैंने मन, वचन और काया के व्यापारो से उत्पन्न दुष्ट चेष्टाओ से सचमुच अपने मस्तक पर अग्नि जलाई है । (५)

त्वय्यपि त्रातरि त्रात -र्यन्मोहादिमलिम्लुचै ।
रत्नत्रय मे ह्रियते, हताशो हा हतोऽस्मि तत् ॥६॥

हे रक्षक ! आप रक्षक विद्यमान हैं तो भी मोह आदि चोर मेरे ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी तीन रत्नो का हरण करके जा रहे हैं, जिससे हा ! मैं हताश हो गया हूँ । (६)

भ्रान्तस्तीर्थानि दृष्टस्त्व, मयैकस्तेषु तारकः ।
तत्तवाङ्घ्रौ विलग्नोऽस्मि, नाथ ! तारय तारय ॥७॥

मैं अनेक मतो मे भटका हूँ परन्तु उन सब मे मैंने आपको ही तारणहार के रूप मे देखा है, जिससे मैं आपके चरणो से लिपट गया हूँ । अत हे नाथ ! आप कृपा करके मेरा उद्धार करो, मेरा उद्धार करो । (७)

भवत्प्रसादेनैवाह -मियतीं प्रापितो भुवम् ।
औदासीन्येन नेदानी, तव युक्तमुपेक्षितुम् ।।८।।

हे नाथ ! आपकी कृपा से ही मैं इतनी भूमिका को, आपकी सेवा की योग्यता को प्राप्त कर सका हूँ । अत अब उदासीनता से मेरी उपेक्षा करना योग्य नही है, उचित नही है । (८)

ज्ञाता तात ! त्वमेवैक -स्त्वत्तो नान्य कृपापरः ।
नान्यो मत्तः कृपापात्र -मेधि यत्कृत्यकर्मठः ।।९।।

हे तात् ! आप ही एक ज्ञाता है । आपसे अधिक अन्य कोई दयालु नही है और मुझसे अधिक अन्य कोई कृपापात्र (दया पात्र) नही है । करने योग्य कार्य मे आप कुशल है अत जो करने योग्य हो उसे आप करने के लिये तत्पर बनें । (९)

—०—

सत्रहवाँ प्रकाश

स्वकृतं दुष्कृत गर्हन्, सुकृत चानुमोदयन् ।
नाथ ! त्वच्चरणौ यामि, शरण शरणोज्झित· ।।१।।

हे नाथ ! किये गये दुष्कृतो की गर्हा एव किये गये सुकृतो की अनु-मोदना करता हुआ, अन्य की शरण से रहित मैं आपके चरणो की शरण ग्रहण करता हूँ । (१)

मनोवाक्कायजे पापे, कृतानुमतिकारितैः ।
मिथ्या मे दुष्कृत भूया -दपुन क्रिययान्वितम् ।।२।।

हे भगवन् ! करने, कराने और अनुमोदना के द्वारा मन वचन काया से हुए पाप के लिए जो दुष्कृत लगा हो उसे पुन नही करने की प्रतिज्ञा से आपके प्रभाव से मेरा वह दुष्कृत मिथ्या हो । (२)

यत्कृत सुकृत किञ्चिद्, रत्नत्रितयगोचरम् ।
तत्सर्वमनुमन्येऽहं, मार्गमात्रानुसार्यपि ।।३।।

हे नाथ ! रत्नत्रयी के मार्ग का केवल अनुकरण करने वाला जो कुछ भी सुकृत मैंने किया हो उस सबकी मैं अनुमोदना करता हूँ । (३)

सर्वेषामर्हदादीना, यो योऽर्हत्त्वादिको गुणः ।
अनुमोदयामि त त, सर्वं तेषां महात्मनाम् ॥४॥

अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओ मे जो जो आर्हन्त्य, सिद्धत्व, पचाचार के पालन मे प्रवीणता, सूत्रो की उपदेशकता और रत्नत्रयी की साधना आदि जो जो गुण है उन समस्त गुणो की मैं अनुमोदना करता हूँ । (४)

त्वा त्वत्फलभूतान् सिद्धां -स्त्वच्छासनरतान्मुनीन् ।
त्वच्छासन च शरण, प्रतिपन्नोऽस्मि भावतः ॥५॥

हे भगवन् ! भाव अरिहन्त आपकी, आपके फलभूत (अरिहन्तो का फल सिद्ध है) समस्त कर्मो से मुक्त एव लोक के अग्रभाग पर स्थित सिद्ध भगवानो की, आपके शासन मे अनुरक्त मुनिवरो की और आपके शासन की शरण मैने भावपूर्वक ग्रहण की है । (५)

क्षमयामि सर्वान्सत्त्वान्सर्वे क्षाम्यन्तु ते मयि ।
मैत्र्यस्तु तेषु सर्वेषु, त्वदेकशरणस्य मे ॥६॥

हे नाथ ! समस्त प्राणियो से मैं क्षमा याचना करता हूँ, समस्त प्राणी मुझे क्षमा करे, मेरे प्रति कलुपता को त्याग कर मुझे क्षमा प्रदान करे । केवल आपके ही शरणागत मुझ मे उन सबके प्रति मैत्री, मित्रभाव, हितबुद्धि हो । (६)

एकोऽह नास्ति मे कश्चिन्, न चाहमपि कस्यचित् ।
त्वदङ्घ्रिशरणस्थस्य, मम दैन्य न किञ्चन ॥७॥

हे नाथ ! मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नही है और मैं भी किसी का नही हूँ, फिर भी आपके चरणो की शरण ग्रहण किये हुए मुझ मे तनिक भी दीनता नही है। (७)

यावन्नाप्नोमि पदवीं, परा त्वदनुभावजाम् ।
तावन्मयि शरण्यत्व, मा मुञ्चः शरण श्रिते ॥८॥

हे विश्व-वत्सल ! आपके प्रभाव से प्राप्त होने वाली उत्कृष्ट पदवी—मुक्तिपद मुझे प्राप्त न हो, तव तक शरणागत मेरे, आप पालक वने रहे, पालकता का त्याग नही करें। (८)

—०—

न परं नाम मृद्वेव, कठोरमपि किञ्चन ।
विशेषज्ञाय विज्ञप्यं, स्वामिने स्वान्तशुद्धये ।।१।।

केवल सुकोमल वचनो से ही नही, किन्तु विशेषज्ञ–हितकारी स्वामी को अन्त करण की शुद्धि के लिए कुछ कठोर वचनो से भी विनती करनी चाहिये। (१)

न पक्षिपशुसिंहादि –वाहनासीनविग्रहः ।
न नेत्रगात्रवक्त्रादि –विकारविकृताकृतिः ।।२।।

हे स्वामिन् ! लौकिक देवो की तरह आपका शरीर हस, गरुड आदि पक्षियो, छाग, वृषभ, सिंह, व्याघ्र आदि पशुओ के वाहन पर आरूढ नही है, तथा आपकी आकृति भी उन देवो की तरह नेत्र, गात्र (शरीर) और मु ह आदि के विकारो से विकृत नही है। (२)

न शूलचापचक्रादि –शस्त्राङ्ककरपल्लवः ।
नाङ्गनाकमनीयाङ्ग –परिष्वङ्गपरायणः ।।३।।

हे नाथ ! आप अन्य देवो की तरह कर-पल्लव त्रिशूल, धनुष एव चक्र आदि शस्त्रो से चिन्हित नही हुए है, तथा आपकी उत्सग (गोद) स्त्रियो के मनोहर अग का आलिगन करने मे तत्पर नही हुई है। (३)

न गर्हणीयचरित –प्रकम्पितमहाजन. ।
न प्रकोपप्रसादादि –विडम्बितनरामरः ।।४।।

हे नाथ ! अन्य देवो की तरह निन्दनीय चरित्र से आपने महाजनो (उत्तम पुरुषो) को प्रकम्पित नही किया, तथा प्रकोप एव प्रसाद (कृपा) के द्वारा आपने देवताओ और मनुष्यो को विडम्बना मे नही डाला। (४)

न जगज्जननस्थेम –विनाशविहितादर. ।
न लास्यहास्यगीतादि –विप्लोवप्लुतस्थितिः ।।५।।

हे नाथ ! अन्य देवो की तरह जगत् को उत्पन्न करने मे, स्थिर करने मे अथवा विनाश करने मे आपने आदर नही बताया तथा नटो के उचित नृत्य, हास्य और गीत आदि चेष्टाओ के द्वारा आपने अपनी स्थिति को उपद्रवयुक्त नही किया। (५)

तदेव सर्वदेवेभ्य, सर्वथा त्व विलक्षणः ।
देवत्वेन प्रतिष्ठाप्य, कथ नाम परीक्षकैः ? ॥६॥

इस कारण भगवन् ! आप समस्त देवो मे समस्त प्रकार से विलक्षण है, अत परीक्षकगण आपको देव के रूप में कैसे प्रतिष्ठित करे ? (६)

अनुस्रोत सरत्पर्ण -तृणकाष्ठादियुक्तिमत् ।
प्रतिस्रोत श्रयद्वस्तु, कया युक्त्या प्रतीयताम् ॥७॥

हे नाथ ! पत्ते, तृण (घास) और काष्ठ आदि वस्तु पानी के प्रवाह के अनुकूल चले यह बात युक्ति-सगत है, परन्तु वे प्रवाह के प्रतिकूल चलें यह बात किस युक्ति से निश्चित की जाये ? (७)

अथवाऽल मन्दबुद्धि -परीक्षकपरीक्षणैः ।
ममापि कृतमेतेन, वैयत्येन जगत्प्रभो ? ॥८॥

अथवा हे जगत्-प्रभु ! मन्द बुद्धि-युक्त परीक्षको की परीक्षाओ से मुक्ति हुई तथा मुझे इस प्रकार की परीक्षा करने के हठाग्रह से मुक्ति हुई। (८)

यदेव सर्वससारि -जन्तुरूपविलक्षणम् ।
परीक्षन्ता कृतधियस्तदेव तव लक्षणम् ॥९॥

हे स्वामिन् ! समस्त ससारी जीवो के स्वरूप से जो कोई विलक्षण स्वरूप इस विश्व मे प्रतीत हो, वही आपका लक्षण है। इस प्रकार बुद्धिमान पुरुष परीक्षा करें। (९)

क्रोधलोभभयाक्रान्त, जगदस्माद्विलक्षणः ।
न गोचरो मृदुधिया, वीतराग ! कथञ्चन ॥१०॥

हे वीतराग ! यह जगत् क्रोध और भय से आक्रान्त है, व्याप्त है, जबकि आप क्रोध आदि से रहित होने के कारण विलक्षण हैं। अत मृदु (मन्द) बुद्धि वाले बहिर्मुख पुरुषो को आप किसी भी प्रकार से गोचर (प्रत्यक्ष) नही हो सकते। (१०)

—०—

उन्नीसवाँ प्रकाश

तव चेतसि वर्तेऽह -मिति वार्त्तापि दुर्लभा ।
मच्चित्ते वर्त्तसे चेत्त्व -मलमन्येन केनचित् ॥१॥

हे नाथ! लोकोत्तर चरित्रवाले आपके चित्त मे मैं रहूँ यह तो असम्भव है परन्तु आपका मेरे चित्त मे रहना सम्भव है, और यदि ऐसा हो जाये तो मुझे कोई अन्य मनोरथ करने की आवश्यकता ही नही रहेगी। (१)

निगृह्य कोपतः कांश्चित्, कांश्चित्तुष्ट्याऽनुगृह्य च।
प्रतार्यन्ते मृदुधियः, प्रलम्भनपरैः परैः ॥२॥

हे नाथ! ठगने मे तत्पर अन्य देव कुछ मन्द बुद्धिवालो को कोप से—शाप आदि देकर और कुछ को प्रसाद से–वरदान आदि देकर ठगते है, परन्तु आप जिनके चित्त मे हो वे मनुष्य ऐसे कुदेवो के द्वारा ठगे नही जाते। अत आप मेरे चित्त मे रहे तो मैं कृतकृत्य ही हूँ। (२)

अप्रसन्नात्कथ प्राप्यं, फलमेतदसङ्गतम्?।
चिन्तामण्यादयः किं न, फलन्त्यपि विचेतनाः? ॥३॥

हे नाथ! कदापि प्रसन्न नही होने वाले आपसे फल कैसे प्राप्त किया जाये यह कहना असगत है, क्योकि चिन्तामणि रत्न आदि विशिष्ट चेतना रहित हैं फिर भी क्या वे फल प्रदान नही करते? अवश्य करते हैं।

(विशिष्ट चेतना रहित चिन्तामणि आदि स्वय किसी पर प्रसन्न नही होते, फिर भी विधिपूर्वक उनकी आराधना करने वाले को फल प्राप्त होता है। उसी तरह से वीतराग परमात्मा की विधिपूर्वक आराधना करने वाले को फल अवश्य प्राप्त होता है। (३)

वीतराग! सपर्यातस्तवाज्ञापालनं[1] परम्।
आज्ञाऽऽराद्धा विराद्धा च, शिवाय च भवाय च ॥४॥

हे वीतराग! आपकी पूजा की अपेक्षा भी आपकी आज्ञा का पालन श्रेष्ठ है, क्योकि आराधक आज्ञा मोक्ष के लिए होती है और विराधक आज्ञा ससार के लिए होती है। (४)

आकालमियमाज्ञा ते, हेयोपादेयगोचरा:।
आस्रवः सर्वथा हेय, उपादेयश्च संवरः ॥५॥

---

1 सपर्यायास्तवाज्ञापालन

आपकी यह आज्ञा सदा हेय-उपादेय के विषय मे है, और वह यह है कि आस्रव समस्त प्रकार से हेय (त्याग करने योग्य) है और सवर समस्त प्रकार से उपादेय (अगीकार करने) योग्य करने है। (५)

आस्रवो भवहेतु स्यात्, सवरो मोक्षकारणम् ।
इतीयमार्हती मुष्टि – रन्यदस्या॰ प्रपञ्चनम् ।।६।।

आस्रव भय का कारण है और सवर मोक्ष का कारण है। श्री अरिहन्त देवो के उपदेश का यह सक्षिप्त रहस्य है। अन्य समस्त उसका विस्तार है। (६)

इत्याज्ञाराधनपरा, अनन्ता परिनिर्वृत्ता॰ ।
निर्वान्ति चान्ये क्वचन, निर्वास्यन्ति तथा परे ।।७।।

इस प्रकार की आज्ञा के आराधक अनन्त आत्माओ ने निर्वाण प्राप्त किया है, अन्य कुछ कही प्राप्त करते हैं और अन्य अनन्त भविष्य मे निर्वाण पद प्राप्त करेंगे। (७)

हित्वा प्रसादनाद्दैन्य – मेकयैव त्वदाज्ञया ।
सर्वथैव विमुच्यन्ते, जन्मिन कर्मपञ्जरात् ।।८।।

हे विश्वेश! जगत् मे ऐसा कहा जाता है कि यदि स्वामी की प्रसन्नता हो तो फल की प्राप्ति होती है परन्तु यह वात चिन्तामणि के दृष्टान्त से असगत है—इसी प्रकाश के द्वितीय श्लोक मे यह सिद्ध करके वताया गया है। अत दीनता का त्याग करके निष्कपट भाव से आपकी आज्ञा की आराधना करके भव्य प्राणी कर्म रूपी पिंजरे से सर्वथा मुक्त होते हैं। इस कारण आपकी आज्ञा की आराधना करना ही मुक्ति का एक श्रेष्ठ उपाय है। (८)

—०—

वीसवाँ प्रकाश

पादपीठलुठन्मूर्ध्नि, मयि पादरजस्तव ।
चिर निवसतां पुण्य – परमाणुकणोपमम् ।।१।।

आपके पादपीठ मे शीश नमाते समय मेरे ललाट पर पुण्य-परमाणु-कणो के समान आपकी चरण-रज चिरकाल रहे। (१)

मद्दृशौ त्वन्मुखासक्ते, हर्षवाष्पजलोर्मिभि ।
अप्रेक्ष्यप्रेक्षणोद्भूत, क्षणात्क्षालयतां मलम् ।।२।।

आपके मुख के प्रति आसक्त मेरे नेत्र पहले अप्रेक्ष्य वस्तुओ को देखने से उत्पन्न पाप-मल को पल भर मे हर्षाश्रुओ के जल की तरगो से धो डाले । (२)

त्वत्पुरो लुठनैर्भूयान्, मद्भालस्य तपस्विन ।
कृतासेव्यप्रणामस्य, प्रायश्चित्त किणावलि ।।३।।

हे प्रभु ! उपासना के लिए अयोग्य अन्य देवो को प्रणाम करने वाली और तीनो लोको द्वारा सेव्य आपकी उपासना से वचित रहने से करुणास्पद बनी मेरी इस ललाट को आपके समक्ष नमाने से उस पर लगी हुई क्षत की श्रेणी ही प्रायश्चित्त स्वरूप हो । (३)

मम त्वद्दर्शनोद्भूताश्चिर रोमाञ्चकण्टकाः ।
नुदन्तां चिरकालोत्था –मसद्दर्शनवासनाम् ।।४।।

हे निर्मम-शिरोमणि ! आपके दर्शन से मुझ में चिरकाल तक उत्पन्न रोमाच रूपी कण्टक दीर्घ काल से उत्पन्न कुशासन की दुर्वासना का अत्यन्त नाश करे । (४)

त्वद्वक्त्रकान्तिज्योत्स्नासु, निपीतासु सुधास्विव ।
मदीयैर्लोचनाम्भोजैः, प्राप्यता निर्निमेषता ।।५।।

हे नाथ ! अमृत तुल्य आपके मुँह की कान्ति रूपी ज्योत्स्ना का पान करते हुए मेरे नेत्र रूपी कमल निर्निमेष रहे । (५)

त्वदास्यलासिनी नेत्रे, त्वदुपास्तिकरौ करौ ।
त्वद्गुणश्रोतृणी श्रोत्रे, भूयास्तां सर्वदा मम ।।६।।

हे नाथ ! मेरे दोनो नेत्र आपका मुँह देखने मे सदा लालायित रहे, मेरे दोनो हाथ आपकी पूजा करने मे सदा तत्पर रहे और मेरे दोनो कान आपके गुणो का श्रवण करने के लिये सदा उद्यत रहे । (६)

कुण्ठापि यदि सोत्कण्ठा, त्वद्गुणग्रहणं प्रति ।
ममैषा भारती तर्हि, स्वस्त्यै तस्यै किमन्यया ।।७।।

हे प्रभु ! मेरी यह कुण्ठित वाणी आपके गुण ग्रहण करने के लिये उत्कठित हो तो उसका कल्याण हो। इसके अतिरिक्त अन्य वाणी से क्या होगा ? (७)

तव प्रेष्योऽस्मि दासोऽस्मि, सेवकोऽस्म्यस्मि किङ्करः ।
ओमिति प्रतिपद्यस्व, नाथ ! नात पर ब्रुवे ॥८॥

हे नाथ ! मैं आपका प्रेष्य हूँ, दास हूँ, सेवक हूँ और किंकर हूँ। अत "यह मेरा है" इस भाव से आप मुझे स्वीकार करे। इससे अधिक मैं कुछ भी नही कहता। (८)

श्री हेमचन्द्रप्रभवाद् - वीतरागस्तवादितः ।
कुमारपाल - भूपालः, प्राप्नोतु फलमीप्सितम् ॥९॥

श्री हेमचन्द्र सूरीश्वर द्वारा रचित इस श्री वीतराग स्तोत्र से श्री कुमारपाल भूपाल मुक्ति (कर्मक्षय) रूपी अभीप्सित फल प्राप्त करें। (९)

—०—

श्री जिनगुण स्तवन की महिमा

गगन तणु जेम नहि मान ।
तेम अनन्त फल जिन गुण गान ।।

—श्री सकलचंद्रजी उपाध्याय

(१)

वक्तृत्व एव कवित्व शक्ति—

स्तुति, स्तवन, प्रशसा, वर्णवाद आदि एक ही अर्थ व्यक्त करने वाले शब्द है। स्तुति अथवा स्तवन, प्रशसा अथवा वर्णवाद, व्यक्त-शब्दोच्चार के द्वारा हो सकता है। ससार मे ऐसे अनन्त प्राणी है कि जिनमे व्यक्त-शब्दोच्चारण की शक्ति ही नही है। समस्त एकेन्द्रिय प्राणी इस शक्ति से रहित है तथा जीभ वाले दो इन्द्रिय आदि समस्त प्राणी भी वर्णवाद के योग्य व्यक्त-शब्दोच्चार करने की शक्तियुक्त नही होते। सज्ञी पचेन्द्रिय प्राप्त देवो तथा मनुष्यो को ही अनादि ससार मे परिभ्रमण करने से क्वचित् यह शक्ति प्राप्त होती है। इनके अतिरिक्त प्राणी तो स्वकर्म परिणाम से आवृत्त है।

प्रवल ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से विशिष्ट चित् शक्ति-चैतन्य से शून्य होते है। अत. उनमे कवित्व अथवा वक्तृत्व सुलभ वाचा नही होती और जव तक वह वाचा (वाणी) प्राप्त न हो तब तक किसी योग्य का गुण-गान नही हो सकता। इस प्रकार की वाणी प्राप्त होने पर भी अधिकतर देव एव मनुष्य अपनी भवाभिनन्दिता के योग से अन्यो का अर्थात् गुण-गान करने के लिये अयोग्य देव एव मनुष्यो आदि के अवगुणो का कीर्तन करने के लिये ही प्रयत्नशील होते है और इस प्रकार से विशिष्ट शक्ति प्राप्त करके भी स्व आत्मा को मलिन करने मे ही प्रवृत्त होते हैं। कुछ ही भव-भीरू महापुरुष इस प्रकार की वक्तृत्व एव कवित्व शक्ति प्राप्त करने के पश्चात् स्तुति एव स्तवन करने योग्य गुणवान देव-गुरु आदि की स्तुति

करने मे प्रयत्नशील होते हैं और उस कार्य के द्वारा वे अपनी आत्मा को कर्म-मल से मुक्त करते हैं।

गुण-वर्णन की आवश्यकता—

गुणवान अथवा अधिक गुणो वाली आत्माओ के अद्‌भूत गुणो का समुत्कीर्तन करना ही वाणी (सरस्वती) प्राप्ति करने का सच्चा फल है। जो स्तुति करने योग्य होते हैं उनकी स्तुति करने का अवसर जीव को इस भव-वन मे किसी समय ही प्राप्त होता है। शक्ति के अभाव मे अधिकतर समय तो योग्य पुरुष की स्तुति किये बिना ही व्यतीत होता है और शक्ति प्राप्त होने पर अयोग्य की स्तुति करने मे वह शक्ति नष्ट हो जाती है। ऐसी दशा मे योग्य की स्तुति करने का अवसर प्राप्त होना अत्यन्त ही कठिन होता है। यह तत्त्व समझने वाले तत्त्वज्ञ महापुरुषो को इस प्रकार की शक्ति प्राप्त हो जाये तब वे स्तवन करने योग्य महापुरुषो की स्तवना करने मे तनिक भी कमी नही रखते। इस बात का परिचय आज पूर्वाचार्यों द्वारा रचित असख्य स्तोत्र, स्तवन एव स्तुति हमे प्रत्यक्ष रूप से कराती हैं। महापुरुषो को प्राप्त वक्तृत्व शक्ति एव कवित्व शक्ति का उपयोग श्री जिनेश्वर भगवान के गुण-गान करने के लिए मुक्त रूप से हुआ है। यद्यपि वे इस प्रकार से भी जिनेश्वर देव के एक भी गुण का पूर्णत उत्कीर्तन करने मे समथ नही हुए है--यह बात वे स्वय स्वीकार करते है और उसका कारण भी स्पष्ट ही है, परन्तु सच्चे गुण का वाणी से पूर्णत वर्णन करना असभव है। वाणी तो केवल दिशा-निर्देश कर सकती है। अत पहचान तो उक्त दिशा निर्देश से होने वाले आत्मानुभव पर आधार रखती है।

विशुद्ध श्रद्धा एव भक्ति—

किसी भी गुण की सच्ची महिमा वाणी के द्वारा व्यक्त नही की जा सकती, किन्तु मन के द्वारा प्रकट की जा सकती है। अत एक महापुरुष का कथन है कि—"सत्यगुण के कथन मे कदापि अतिशयोक्ति हो ही नही सकती, सदा अल्पोक्ति ही रहती है।" इस सत्य को परमार्थदर्शी पूर्व आचार्य प्रवर यथार्थ रूप से समझते थे। इस कारण श्री जिन गुण स्तवन मे उन्होने वाणी की अविरल वृष्टि की तदपि यह अविरल प्रवाह उनके एक भी सद्‌भूत गुण का तनिक भी वर्णन नही कर सका, इस सत्य को उन्होने स्वीकार किया है। किसी ने बाल-चपलता करने की बात कही है तो किसी ने दोनो भुजाएँ फैला कर समुद्र की विशालता का वर्णन करने जैसी चेष्टा करने की बात कही है।

इस प्रकार समस्त स्तुतिकारो ने अपनी उस विषय की असमर्थता को नि सकोच भाव से प्रदर्शित करते हुए कहा है कि—"हममे सामर्थ्य नही होते हुए भी हम श्री जिन-गुण गाने के लिए उद्यत हुए है, उसका कारण केवल हमारी श्रद्धा एव श्री जिन-गुणो के प्रति हमारी भक्ति ही है। परमात्म-गुणो की भक्ति हमे सभव-असभव के विचार-चातुर्य से रहित करती है, क्योकि हम जानते है कि श्रद्धा एव भक्ति से बोले हुए उल्टे-सीधे अथवा असम्बद्ध वचन भी बालालाप की तरह श्रोताओ मे अरुचि नही परन्तु विस्मय एव कौतुक उत्पन्न किये बिना नही रहते।" निर्मल बुद्धि वाले सज्जन पुरुष ऐसी असमजस पूर्ण चेष्टा की हँसी नही उडाते, परन्तु वैसा करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं, क्योकि वे निर्मल मतिवाले महापुरुष समझते है कि स्तुति कोई गुणो की यथार्थ प्रदर्शक नही है, परन्तु स्तुति करने वाली आत्मा मे उक्त गुण के प्रति जो विशुद्ध श्रद्धा एव भक्ति निहित है, उसकी ही केवल प्रदर्शक है।

समस्त स्तवन योग्य महापुरुषों के स्तवन का अन्तर्भाव—

जिसके गुणो के प्रति जिसे श्रद्धा एव भक्ति है, उसके गुणो का कीर्तन करने के लिये जगत् मे कौन प्रवृत्त नही होता ? अवाग् एव अबूझ प्राणी भी अपने पालको और पोषको के गुण-गान करने के लिए अपने अगोपागो के द्वारा विविध प्रकार की चेष्टा करते दृष्टिगोचर होते है, तो फिर विशुद्ध वाणी एव विशुद्ध चैतन्य युक्त आत्मा अपने उपकारियो के गुणो का वर्णन करने के लिए अपनी देह एव वाणी के द्वारा समस्त सभव प्रयत्न करे तो उसमे आश्चर्य ही क्या है ?

श्री जिन-गुण-स्तवन के प्रति श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति भी स्वरुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न मनुष्यो और पशुओ तक का गुण-गान करने मे क्या कमी रखते हैं ? यदि सोचा जाय तो इस जगत् मे सर्वत्र प्रशसा का साम्राज्य छाया हुआ है। अपने स्वय के प्रशसक की प्रशसा करना वर्तमान समय मे शिष्टाचार का एक प्रमुख अग माना जाता है तथा यदि प्रशसक की प्रशसा न की जाये तो उसे शिष्टाचार भग करने वाला घोषित किया जाता है। इसी प्रकार से जिस व्यक्ति की प्रशसा जन-समुदाय का अधिकतर वर्ग करता हो अथवा जो व्यक्ति अपने पुण्य-बल से विशाल जन-समुदाय पर सत्ता जमाया हुआ हो, उसकी भी प्रशसा करनी चाहिये, यह जगत द्वारा स्वीकृत है। यदि ऐसा नही किया जाये तो उसे लोगो का अथवा सत्ता का अपराधी

रूपी महा तेज का विस्तार करने के लिये तथा मन्मथ रूपी अधकार का शोधन करने के लिये आप एक प्रचण्ड सूर्य हैं।

हे नाथ! पृथिवी आदि समस्त परिग्रह का एक साथ पलाल-पुञ्ज की तरह परित्याग करने वाले आप त्याग-मूर्ति हैं। पच महाव्रत रूपी व्रत का बोझा वहन करने के लिये वृषभ तुल्य एव भव-सिन्धु को पार करने के लिये जहाज तुल्य आपको हमारा पुन -पुन नमस्कार हो, पाँच महाव्रतो की होदरवहनो के समान पाँच समितियो के धारक आपको पुन -पुन नमस्कार हो और आत्मारामैकमन से युक्त, वचन गुप्ति के धारक एव समस्त चेष्टाओ से निवृत्त आपको पुन पुन नमस्कार हो।

हे अखिल विश्व के नाथ! अखिल विश्व को अभय प्रदान करने वाले! ससार-सागर-समुत्तारण! प्रात काल मे आपके दर्शन से हमारे समस्त पाप नष्ट होते हैं। हे नाथ! भव्य जीवो के मन रूपी जल को निर्मल करने के लिये कतक चूर्ण के समान आपकी वाणी का जय जयकार होता है। हे करुणा-क्षीर-सागर! आपके शासन रूपी महारथ पर आरोहण करने वालो को दू[illegible] काग्र भी समीप प्रतीत होता है। हे देव! आप [illegible] साक्षात् दर्शन करता हूँ, वह लोक लोकाग्र की [illegible]

तीनो लोको को सनाथ करने वाले एव कृपारस-सिन्धु हे तीर्थपति ! जिस प्रकार सम-भूतला भूमि से पाच सौ योजन से दूर नन्दन-वन आदि तीन वनो से मेरु पर्वत सुशोभित है, उसी प्रकार से जन्म से ही आप मति आदि तीन ज्ञानो से सुशोभित है। हे विश्व-भूषण ! आप जिस क्षेत्र मे जन्म धारण करते हैं, वह क्षेत्र तीन भवनो के मुकुट तुल्य आपके द्वारा अलकृत होने से देव-भूमि से भी उत्तम बन जाता है। आपके जन्म-कल्याणक के महोत्सव से पावन बना दिन भी सदा आप ही के समान वन्दनीय हो जाता है। आपके जन्म आदि के दिनो में नितान्त दु खी नरक के जीव भी सुख की अनुभूति करते है। भला अरिहन्तो का उदय किसका सन्ताप-नाशक नही होता ? आपके चरणो का अवलम्बन पाकर अनेक आत्मा इस भयानक भव-सागर को पार कर लेते है। क्या जहाज का आधार पाया हुआ लोहा भी सागर को पार नही कर पाता ? हे भगवन् ! आप मनुष्य लोक में लोगो के पुण्य से अवतीर्ण होते है। वृक्ष विहीन वन मे कल्पवृक्ष की तरह और जल विहीन मरुस्थल मे नदी के प्रवाह (धारा) के समान आपका जन्म लोगो को अत्यन्त इष्ट होता है।

त्रिलोक रूपी कमल को विकसित करने के लिये भास्कर तुल्य एव ससार रूपी मरुस्थल मे कल्पतरु तुल्य हे जगन्नाथ ! वह मुहूर्त भी धन्य है जिस मुहूर्त मे पुनर्जन्म धारण नही करने वाले आपका विश्व के प्राणियो के दु खोच्छेदनार्थ जन्म होता है। उन मनुष्यो को भी धन्य है कि जो अहर्निश आपके दर्शन करते है। हे भव-तारणहार ! आपकी उपमा देने के लिये अन्य कोई वस्तु ही नही है। आपके समान आप ही हैं, इतना ही कह कर हम रुक जाते हैं। आपके सद्भूत गुणो के विषय मे कुछ कहने में भी हम समर्थ नही है, इसमे तनिक भी आश्चर्य नही है। स्वयभूरमण समुद्र के अगाध जल की थाह लेने मे भला कौन समर्थ है ?

हे भगवन् ! आपके यथास्थित गुणो का वर्णन करने मे हम असमर्थ है तो भी आपके प्रभाव से हमारी बुद्धि का अवश्य विस्तार होगा। हे स्वामी ! त्रस तथा स्थावर दोनो प्रकार के जन्तुओ की हिंसा के परिहार से आप अभयदान की एक दानशाला के समान है। आप मृषावाद के सर्वथा परित्याग से प्रिय, पथ्य एव तथ्य वचन रूपी अमृत-रस के सागर हैं। हे जगत्-पति ! निरुद्ध मोक्ष मार्ग के द्वार को अदत्तादान के प्रत्याख्यान से खोलने वाले आप एक समर्थ द्वारपाल है। हे भगवन् ! अखण्ड ब्रह्मचर्य

रूपी महा तेज का विस्तार करने के लिये तथा मन्मथ रूपी अधकार का मथन करने के लिये आप एक प्रचण्ड सूर्य हैं।

हे नाथ! पृथिवी आदि समस्त परिग्रह का एक साथ पलाल-पुञ्ज की तरह परित्याग करने वाले आप त्याग-मूर्ति है। पच महाव्रत रूपी व्रत का वोझा वहन करने के लिये वृषभ तुल्य एव भव-सिन्धु को पार करने के लिये जहाज तुल्य आपको हमारा पुन:-पुन नमस्कार हो, पाँच महाव्रतो की सहोदरवहनो के समान पाँच समितियो के धारक आपको पुन -पुन नमस्कार हो और आत्मारामैकमन से युक्त, वचन गुप्ति के धारक एव समस्त चेष्टाओ से निवृत्त आपको पुन पुन नमस्कार हो।

हे अखिल विश्व के नाथ! अखिल विश्व को अभय प्रदान करने वाले! ससार-सागर-समुत्तारण! प्रात काल मे आपके दर्शन से हमारे समस्त पाप नष्ट होते है। हे नाथ! भव्य जीवो के मन रूपी जल को निर्मल करने के लिये कतक चूर्ण के समान आपकी वाणी का जय जयकार होता है। हे करुणा-क्षीर-सागर! आपके शासन रूपी महारथ पर आरोहण करने वालो को दूरस्थ लोकाग्र भी समीप प्रतीत होता है। हे देव! आप निष्कारण जगवधु का मैं साक्षात् दर्शन करता हूँ, वह लोक लोकाग्र की अपेक्षा भी मेरे मन मे उत्तम है।

हे स्वामी! आपके दर्शन रूपी महानद के रस से परिपूर्ण नेत्रो के द्वारा ससार में भी मैं मोक्ष-सुख के आस्वादन का अनुभव करता हूँ। राग-द्वेष एव कषाय रूपी भयानक शत्रुओ से पीडित जगत् भी हे नाथ! आप अभय देने वाले की कृपा से ही निर्भय है। तत्त्व को आप स्वय ही बताते हैं, आप ही मार्ग भी वताते है तथा विश्व की आप ही रक्षा करते हैं, तो फिर मेरे लिये मागने का कुछ रहता ही नही है। हे भगवन्! आपकी पर्षदा मे परस्पर युद्ध करने वाले शत्रुराज भी मित्र वन कर रहते हैं। हे देव! आपकी पर्षदा मे शाश्वत वैर रखने वाले अन्य जीव भी आपके असीम प्रभाव से अपनी स्वाभाविक शत्रुता को भुला कर मैत्री धारण करते हैं।

(२)

वाणी का सच्चा फल—

गुणवान के गुणो का उत्कीर्तन करना प्राप्त वाणी का सच्चा फल है। वाणी प्राप्त होने पर उसका कुछ न कुछ उपयोग होता ही रहता है।

मानव-देह में प्राप्त, बोलने एव सोचने की शक्ति का प्रवाह नित्य होता ही रहता है। जिस प्रकार मन को नियत्रण मे रखना कठिन है, उसी प्रकार से प्राप्त वाणी को भी सर्वथा रोक देना, अमुक अवस्था तक नही पहुँचे मनुष्यो के लिये असभव है। वाणी का कुछ न कुछ उपयोग तो होता ही है, तो फिर उसका सर्वोत्तम उपयोग क्या हो सकता है, उसे खोजना अनिवार्य हो जाता है।

क्या नाम लेने से अथवा गुण गाने से कार्य-सिद्धि सभव है?—

कुछ मनुष्य कहते हैं कि श्री जिन का नाम लेने से अथवा गुण-गाने से कार्य-सिद्धि हो जाती हो तो अन्न अथवा धन का नाम लेने से अथवा गुण गाने से अन्न अथवा धन की प्राप्ति हो जानी चाहिए। नाम लेना अथवा गुण गाना तो केवल औपचारिक भक्ति है। सच्ची भक्ति तो उस नाम और गुण वाले के गुणो को प्राप्त करने का उद्यम ही है। जो व्यक्ति धन अथवा अन्न प्राप्त करने के लिये उद्यम नही करते, उन्हे उनके नाम का जाप अथवा गुणो का स्तवन क्या लाभ करता है? नाम-स्मरण नही करने वाला अथवा वाणी के द्वारा गुणो का लम्बा उत्कीर्तन नही करने वाला व्यक्ति भी यदि उनकी प्राप्ति के लिये उचित उद्यम करे तो उसे उस वस्तु की प्राप्ति होगी ही। इस प्रकार नाम-स्मरण अथवा गुणोत्कीर्तन का कोई विशेष फल नही है, यह निश्चय करके जो लोग उसकी उपेक्षा करते है, वे वस्तु का एक पक्ष ही ग्रहण करते है और कार्य-सिद्धि करने वाले अन्य उपयोगी पक्षो का एकान्तवादी बन कर त्याग करते हैं।

उद्यम एवं आज्ञा-पालन के लिये प्रेरक तत्त्व—

उद्यम अथवा आज्ञा-पालन के बिना कार्य-सिद्धि असभव है, तो भी उक्त उद्यम की ओर आत्मा को प्रेरित करने वाली प्रथम वस्तु कौनसी है, इस पर चिन्तन करना शेष रहता है। जिसका नाम किसी को ज्ञात नही है और जिसके गुणो के प्रति जिसे अनुराग नही है, उस वस्तु की प्राप्ति के लिये कभी उद्यम हुआ हो यह किसी ने कभी नही देखा। जहाँ जिस वस्तु की प्राप्ति के लिये उद्यम होता है वहाँ उस वस्तु के नाम का और गुणो का परिचय होता है।

श्री जिन की आज्ञा के पालन के लिये उद्यमशील होने की अभिलापा उनके गुणो के ज्ञान एव गान के बिना वन्ध्या रहने के लिये ही सर्जित है।

श्री जिन के गुण-गान मे थकान प्रदर्शित करने वाले पुरुष उनकी आज्ञा-पालन का दावा करते हो तो वह प्राय दम्भ स्वरूप ही सिद्ध होगा। प्राय कहने का तात्पर्य यह है कि सयोग के अभाव मे गुणोत्कीर्तन के बिना भी क्वचित् आज्ञा-पालन हो सकता है, परन्तु आज्ञा-पालक एव आज्ञा-पालन अभिलाषी व्यक्ति, सयोग एव शक्ति होते हुए भी श्री जिन का गुणोत्कीर्तन करने वाला न हो, यह असभव है।

जाप एव कीर्तन की आवश्यकता—

धन अथवा अन्न का जीव को अनादिकालीन परिचय है। उनका नाम उसके होठो पर और उनके गुण उसके हृदय मे गुथे हुए है। वह यदि भूलना चाहे तो भी धन एव अन्न के गुण, [illegible] भूल नही सकता। इस दशा मे उसे अन्न अथवा धन का [illegible] की आवश्यकता नही होती अथवा उनकी स्तुति करने [illegible] निकालने की भी आवश्यकता नही होती। श्री जिन [illegible] लिये जीव की ऐसी दशा नही है। श्री जिन के गुणों [illegible] कदापि हुआ ही नही है और यदि हुआ हो तो [illegible] प्रमाण यही है कि आज स्मरण कराने पर भी [illegible]

श्री जिन के अपार एव अनन्त गुण [illegible] होने वाला आत्मा को अपूर्व लाभ, उनमे होने [illegible] और अव्यावाध सुख की प्राप्ति आदि की ओर [illegible] है। चित्त उनकी ओर लगाने के लिये, [illegible] के लिये और उन गुणो की स्मृति [illegible] गुणो का बार बार जाप एव कीर्तन [illegible] एव गुणो के सतत् जाप, [illegible] गुणो का परिचय किया जा सकता है

वे दोनो से भ्रष्ट हो जाते हैं—

श्री जिन-गुण का [illegible] उत्पन्न होने वाली जिन-[illegible] लिए उनके जाप और [illegible] नही है कि जाप तथा [illegible] कार्यसिद्धि के लिए तो [illegible]

आज्ञा-पालन आदि अन्य साधनों की भी आवश्यकता होती ही है, तो भी इन सब मे प्राथमिक उपाय के रूप मे जाप एव स्तवन का प्रमुख भाग रहता है। जाप के बिना ध्यान नहीं होता और स्तवन के बिना आज्ञाराधना का उतना उल्लास जागृत नही होता।

श्री जिन की यथास्थित आज्ञा की आराधना यथाख्यात् चारित्र का पालन है। यह दशा प्राप्त करने के लिए श्री जिन-गुण-स्तवन भी एक परम आवश्यक साधन है। यथाख्यात् चारित्र तक पहुँचे हुए पुरुष श्री जिन-गुण का स्तवन न करे तो चल सकता है, परन्तु उस स्थिति तक पहुँचने से पूर्व ही आज्ञाराधना के नाम पर श्री जिन-गुण-स्तवन आदि का अवलम्बन त्याग देने का वाद करे वे दोनो से भ्रष्ट हो जाते है।

आत्म-गुण-प्राप्ति में प्रधान निमित्त—

अथवा श्री जिन-गुण की स्तुति करना भी एक प्रकार से श्री जिनाज्ञा का पालन और आराधन है। "जिस प्रकार अन्न एव धन की स्तुति करने से अन्न एव धन प्राप्त नही होता, उसी प्रकार से श्री जिन-गुण का स्तवन करने मात्र से उनकी प्राप्ति नही होती"–यह कहने मे दृष्टान्त-वैषम्य है। अन्न एव धन आत्म-बाह्य पदार्थ है। आत्म-बाह्य पदार्थों की प्राप्ति केवल स्मरण, स्तवन अथवा ध्यान से नही हो सकती, परन्तु उसके लिए बाह्य प्रयत्नो की भी आवश्यकता होती है, जबकि आत्म-गुणो की प्राप्ति के लिए बाह्य प्रयत्नो की प्रधानता नही होती, किन्तु स्तवन आदि आन्तरिक प्रयत्नो की ही प्रधानता होती है। इसके लिए जिन-गुण स्तवन आत्म-गुणो की प्राप्ति मे प्रधान कारण है। इस कारण पूर्व महर्षियो ने इस अग को भी अन्य अगो की तरह विशेष रूप से अपनाया है।

श्री जिनेश्वरों की स्तुति—

श्री जिन-गुण-महिमा प्रदर्शित करने के लिये और श्री जिनेश्वर देवो के जगत् के जीवो पर असीम उपकार करने के लिये असाधारण वाक्-शक्ति का प्रवाह बहाने वाले पूर्व महर्षियो का कथन है कि—"जिस प्रकार घडो के द्वारा समुद्र के जल का माप निकालना असम्भव है, उसी प्रकार हम जैसे जड बुद्धि वाले लाखो पुरुषो के द्वारा गुणो के सागर भगवान् श्री जिनेश्वर देवो के गुणो की थाह लेना भी असम्भव है, फिर भी हम भक्ति से निरकुश बने हुए अपनी शक्ति अथवा योग्यता का तनिक भी विचार

किये बिना ही त्रिलोकीनाथ श्री तीर्थंकर देवो के गुणो का उत्कीर्तन करने के लिये उत्साहित होते है।"

उन महर्षियो का कथन है कि–"भगवान के गुणो के प्रभाव से हमारी मन्द बुद्धि भी प्रभावशाली हो जाती है। गुणो रूपी पर्वत के दर्शन से भक्ति के वशीभूत बने एव बुद्धिहीन हम नवीन-नवीन वाणी को प्राप्त करते है।"

योगी-पुङ्गवो के द्वारा भी अमूल्य श्री जिनेश्वर देवो का गुण-गान करने के लिये तत्पर बने महर्षि अपनी बाल चेष्टा बता कर प्रभु के गुण-गान मे अग्रसर होकर कहते है कि –"हे भगवन् ! आपको नमस्कार करने वाले तपस्या करने वालो से भी आगे बढ जाते है और आपकी सेवा करने वाले योगियो से भी अधिक है। धन्य पुरुषो को ही, नमस्कार करते समय आपके चरणो के नाखूनो की कान्ति मस्तक के मुकुट की शोभा धारण करती है। किसी से भी साम, दाम, दण्ड अथवा भेद कुछ भी ग्रहण किये बिना ही आप त्रैलोक्य-चक्रवर्त्ती बने हैं, यह सचमुच आश्चर्य है। जिस प्रकार चन्द्रमा समस्त जलाशयो के जल मे समान व्यवहार करता है, उसी प्रकार से हे स्वामी ! आप भी जगत् के समस्त जीवो के चित्त मे समान रूप से निवास करते हैं। हे देव ! आपको स्तुति करने वाले सबके लिये स्तुत्य बन जाते हैं, आपकी अर्चना करने वाले सबके द्वारा अर्चना किये जाने के योग्य हो जाते है तथा आपको नमस्कार करने वाले सबके द्वारा नमस्कार किये जाने के पात्र बन जाते हैं। सचमुच आपकी भक्ति अचिन्त्य फल-दायक है।

हे देव ! दु ख रूपी दावानल के ताप से दग्ध आत्माओ को आपकी भक्ति आषाढी मेघो की वृष्टि की तरह परम शान्ति प्रदान करने वाली है। हे भगवन् ! मोहान्धकार से मूढ बनी आत्माओ के लिये आपकी भक्ति विवेक रूपी दीपक प्रज्ज्वलित करने वाली है। आकाश के बादलो की तरह, चन्द्रमा की चादनी की तरह अथवा मार्ग के छाया-वृक्षो की छाया की तरह आपकी कृपा निर्धन अथवा धनी, मूर्ख अथवा गुणी सबको समान रूप से उपकारी है। हे भगवन् ! आपके चरणो के नाखूनो की कान्ति भव-शत्रुओ से त्रस्त आत्माओ को वज्र-पजर की तरह सुरक्षा प्रदान करती है।

हे देव ! उन पुरुषो को धन्य है जो आपके चरणारविन्द के दर्शनार्थ दूर-दूर से भी सदा राजहसो की तरह दौडकर आते है। ससार के घोर

दुःखो से पीडित विवेकी व्यक्ति, जिस प्रकार ससार के जीव शीत से बचने के लिये सूर्य का आश्रय लेते है, उस प्रकार हे देव ! वे ससार के दु खो से बचने के लिये आपका ही आश्रय लेते हैं। हे भगवन् ! जो आपको अनिमेष-स्थिर नेत्रो से निरन्तर देखते है, वे परलोक मे निश्चित ही देवत्व (अनिमेष भाव) प्राप्त करते है, इसमे कोई आश्चर्य की बात नही। जिस प्रकार वस्त्रो का मेल स्वच्छ पानी से साफ हो जाता है, उसी प्रकार हे देव ! आपकी देशना रूपी निर्मल जल से धुली हुई आत्मा कर्म-मल-रहित हो जाती है। हे स्वामी ! आपके नाम-मत्र का जाप करने वाले व्यक्ति को सर्व-सिद्धि-समाकर्षण-मन्त्रत्व को प्राप्त कराता है।

आपकी भक्ति मे तल्लीन बनी आत्माओ को भेदन के लिये वज्र अथवा छेदन के लिये शूल भी समर्थ नही है। हे देव ! आपके आश्रय को ग्रहण करने वाली गुरुकर्मी आत्मा भी लघुकर्मी हो जाती है। क्या सिद्धरस के स्पर्श से लोहा स्वर्ण नही होता ? हे स्वामी ! आपका ध्यान, स्तवन और पूजा करने वाली आत्मा ही अपने मन, वचन और काया को सफल बनाती है। हे स्वामी ! पृथ्वी पर विहरने वाले आपके चरणो की रज मनुष्यो के पाप रूपी वृक्षो का उन्मूलन् करने के लिये महान् मदोन्मत्त हाथी का आच-रण कर रही है। हे नाथ ! नैसर्गिक मोह से जन्म से ही मोहान्ध आत्माओ को केवल आप ही विवेक-चक्षु समर्पित करने के लिये समर्थ हैं। जिस प्रकार मन के लिये मेरु दूर नही है, उसी प्रकार से आपके चरण-कमलो मे भौरो का आचरण करने वाले सेवको के लिये लोकाग्र भी दूर नही है। जिस प्रकार वर्षा के जल से जामुन के वृक्ष से फल गिर जाते है, उसी प्रकार से आपकी देशना रूपी जल के सिचन से प्राणियो के कर्म-पाश शीघ्र ही गल जाते है। हे जगन्नाथ ! आपको बार-बार नमस्कार करके मै आपसे केवल एक ही याचना करता हूँ कि आपकी कृपा से समुद्र के जल की तरह मुझे आपकी अक्षय भक्ति प्राप्त हो।

हे स्वामी ! केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् कृतार्थ होने पर भी आप केवल लोगो के लिये ही पृथ्वी पर विहार करते है। क्या गगन-मण्डल मे सूर्य अपने स्वार्थ के लिये घूमता है ? नही, यह बात नही है। मध्याह्न मे जिस प्रकार प्राणियो की देह की छाया सकुचित हो जाती है, उसी प्रकार से हे प्रभु ! आपके प्रभाव रूपी मध्याह्नकाल का आदित्य प्राणियो की कर्मो को सकुचित कर देता है। नित्य आपके दर्शन करने वाले तिर्यचो को भी धन्य है, जबकि आपके दर्शन मे वचित स्वर्गवासी भी धन्य नही है। जिन

व्यक्तियो के हृदय रूपी चैतन्य के आप अधिष्ठाता बने है, उन भव्यात्माओ से महान् जगत मे अन्य कोई है ही नही।

हे भगवन् ! आप कही भी हो, परन्तु हमारे हृदय का आप कदापि त्याग मत करना, यही हमारी आपसे याचना है। आपके आश्रित आपके समान बने, इसमे तनिक भी अघटित नही है। दीपक के सम्पर्क से क्या वत्तियाँ दीपकत्व प्राप्त नही करती ? इन्द्रिय रूपी मदोन्मत्त गजेन्द्र को मदहीन करने के लिये हे स्वामी ! भैषज तुल्य आपका शासन जयवत होता है। हे त्रिभुवनेश्वर ! आप घाती कर्मो का क्षय करके शेष अघाती कर्मो की जो उपेक्षा करते है उसमे लोकोपकार के अतिरिक्त अन्य क्या कारण है ? अन्य कोई कारण नही है। जिस प्रकार चद्र-दर्शन से मद-दृष्टि व्यक्ति भी पटु हो जाता है, उस प्रकार से आपका प्रभाव देखने से बुद्धिहीन व्यक्ति भी स्तवन करने के लिये बुद्धिमान हो जाता है।

हे स्वामी ! मोहान्धकार मे डूबे जगत् के लिय आलोक के समान आकाश की तरह आपका अनन्त केवलज्ञान विजयी हो रहा है। [illegible] जन्मो से उपार्जित कर्म भी आपके दर्शन से विलीन हो जाता है। [illegible] से पत्थर के समान जमा हुआ घी भी क्या वह्नि से नही [illegible] हे स्वामी ! पिता, माता, गुरु अथवा स्वामी समस्त [illegible] नही कर सकते, वह आप अकेले अनेक के समान [illegible] करते है। जिस प्रकार रात्रि चद्रमा से सुशोभित होती है [illegible] हसो से सुशोभित होता है और मुख-कमल [illegible] होता है, उसी प्रकार हे त्रिलोकीनाथ ! [illegible] सुशोभित हो रहे हैं।"

(३)

श्री जिन-स्तुति का फल—

श्री उत्तराध्ययन [illegible]

प्रश्न—"[illegible]

उत्तर— [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

प्रश्न—हे भगवन् ! स्तोत्र-स्तुति रूपी मगल के द्वारा जीव क्या उपार्जन करता है ?

उत्तर—स्तोत्र-स्तुति रूपी मगल के द्वारा जीव ज्ञान, दर्शन, चारित्र और बोधि का लाभ प्राप्त करता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और बोधि-लाभ को प्राप्त किया हुआ जीव अतक्रिया करके उसी भव मे मोक्ष प्राप्त करता है।

श्री जिन-गुण-स्तवन की महिमा अद्भुत है। श्री जिनेश्वर देवो के अद्भुत गुणो का वर्णन करने वाले शब्द मत्राक्षर स्वरूप हो जाते है। उनसे महान भय भी नष्ट हो जाते है। शब्द शास्त्र के अचूक नियमानुसार प्रयुक्त शब्दो के द्वारा रचित श्री जिन-गुण-महिमा-गर्भित स्तोत्रो से चमत्कारपूर्ण वृत्तान्त वनने के अनेक उदाहरण शास्त्रो में वर्णित दृष्टिगोचर होते है। उस प्रकार के अनेक स्तोत्र आज भी विद्यमान है कि जिनके द्वारा प्राचीन काल मे अपूर्व शासन-प्रभावना एव चमत्कार हो चुके है। स्थिर अत करण वाले व्यक्ति उन स्तोत्रो का आज भी जाप करते है, जिससे पाप का प्रणाश होने के साथ इष्ट कार्यो की अविलम्ब सिद्धि होती है।

श्री जिन-गुण-स्तवन की महिमा प्रदर्शित करते हुए श्री सिद्धसेन-दिवाकरसूरीश्वरजी ने एक स्थान पर कहा है कि—

"श्री जिन-गुण का स्तवन, जाप अथवा पाठ अथवा श्रवण, मनन अथवा निदिध्यासन अष्ट महासिद्धियो को प्रदान करने वाला है, समस्त पापो को रोकने वाला है, समस्त पुण्य का कारण है, समस्त दोषो का नाशक है, समस्त गुणो का दाता है, महा प्रभावशाली है, भवान्तर-कृत अपार पुण्य से प्राप्त है तथा अनेक सम्यग्-दृष्टि, भद्रिक भाव वालो, उत्तम कोटि के देवो एव मनुष्यो आदि से सेवित है। चराचर जीव लोक मे ऐसी कोई उत्तम वस्तु नही है जो श्री जिन-गुण-स्तवन आदि के प्रभाव से भव्य जीवो के हाथ मे नही आये।"

"श्री जिन-गुण स्तवन के प्रताप से चारो निकायो के देवता प्रसन्न होते है, पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश आदि भूत (तत्त्व) अनुकूल होते है, साधु पुरुप उत्तम मन से अनुग्रह करने मे तत्पर होते है, खल पुरुपो का क्षय होता है, जलचर, थलचर एव गगन-चर क्रूर जन्तु मैत्रीमय हो जाते ह और अधम वस्तुओ का स्वभाव उत्तम हो जाता है। इससे मनो-हर धर्म, अर्थ और काम गुण प्राप्त होते है, समस्त ऐहिक सम्पत्ति—शुद्ध,

गोत्र, कलत्र, पुत्र, मित्र, धन, धान, जीवन, यौवन, रूप आरोग्य एव यश आदि प्रमुख सम्पदा सम्मुख होती है, आमुष्मिक स्वर्ग-अपवर्ग की लक्ष्मी मानो आलिंगन करने के लिये दौडी हुई आती है तथा सिद्धि एव समस्त श्रेयस्कर वस्तुओ का समुदाय स्वत ही आकर प्राप्त होता है। सक्षेप मे श्री जिन-गुण का अनुराग समस्त सम्पदाओ का मूल है।"

श्री जिन-नाम-स्तवन-महिमा—

श्री जिनेश्वर देवो का स्वरूप अगम है, अगोचर है, फिर भी उनके गुणो से आकर्षित सत्पुरुष उन्हे बुद्धि-गोचर करने के लिये अनेक विशेपणो के द्वारा उनकी स्तवना करते हैं। उनमे से कुछ (श्री सिद्धसेनदिवाकरसूरि रचित श्री जिनसहस्रनाममत्र मे से) यहाँ दिये जाते है—

"परात्मा, परमज्योति, परम-परमेष्ठी, परमवेधस्, परमयोगी, परमेश्वर, सकलपुरुपार्थयोनि, अवद्यविद्याप्रवर्तनैकवीर, एकान्त कान्त-शान्तमूर्ति, भवद्-भावि-भूत-भावावभासी, कालपाशनाशी, सत्वरजस्तमो-गुणातीत, अनन्तगुणी, वाड्मनोगोचरातीतचरित्र, पवित्र, कारणाकरण, तारण-तरण, सात्त्विकदैवत, तात्त्विकजीवित, निर्ग्रन्थ, परमब्रह्महृदय, योगीन्द्र-प्राणनाथ, त्रिभुवनभव्यकुलनित्योत्सव, विज्ञानानन्दपरब्रह्मैका-त्म्यसमाधि, हरिहरहिरण्यगर्भादिदेवापरिकलितस्वरूप, सम्यग्ध्येय, सम्यक्-श्रद्धेय, सम्यक्शरण्य, सुसमाहित-सम्यक्-स्पृहणीय, अर्हन्, भगवन्, आदि-कर, तीर्थकर, स्वयसम्बुद्ध पुरुषोत्तम पुरुपसिंह, पुरुषवरपुण्डरीक, पुरुष-वरगन्धहस्ती, लोकोत्तम, लोकनाथ, लोकहित, लोकप्रद्योतकारी, लोकप्रदीप, अभयद, दृष्टिद, मुक्तिद, बोधिद, धर्मद, जीवद, शरणद धर्मदेशक, धर्म-सारथि, धर्मवर-चातुरन्त चक्रवर्ती, व्यावृत्तछद्म, अप्रतिहत-सम्यग्ज्ञान-दर्शनसद्म, जिन जापक, तीर्ण-तारक, बुद्ध-बोधक, मुक्त-मोचक, त्रिकाल-वित्, पारगत, कर्माष्टक-निपूदक, अधीश्वर, शम्भु स्वयम्भू, जगत्प्रभु, जिनेश्वर, स्याद्वादवादी, सार्व, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सर्वतीर्थोपनिपद्, सर्व-पापण्ड-मोची, सर्वयज्ञ-फलात्म, सर्वज्ञकलात्म, सर्वयोगरहस्य केवली, देवा-धिदेव, वीतराग, परमात्मा, परम-कारुणिक, सुगत, तथागत, महाहम्, हसराज, महासत्त्व, महाशिव, महाबौद्ध, महामैत्र, सुनिश्चित, विगतद्वन्द्व, गुणाब्धि, लोकनाथ, जित-मार-बल सनातन, उत्तमश्लोक, मुकुन्द, गोविन्द, विष्णु, जिष्णु, अनन्त, अच्युत, श्रीपति, विश्वरूप, हृपिकेश, जगन्नाथ,

भूर्भुव स्व -समुत्तार, मानजर, कालजर, ध्रुव, अजेय, अज, अचल, अव्यय, विभु, अचिन्त्य, असख्य, आदिसख्येय, आदिसाख्य, आदिकेशव, आदिशिव, महाब्रह्म, परमशिव, एकानेकान्तस्वरूप, भावाभावविवर्जित, अस्ति-नास्तिद्वयातीत, पुण्यपापविरहित, सुखदु खविविक्त, अव्यक्त, व्यक्त-स्वरूप, अनादिमध्यनिधन, मुक्तिस्वरूप, नि सग, निरातक, नि शक, निर्भय, निर्द्वन्द्व, निस्तरग, निरूर्मि, निरामय, निष्कलक, परमदैवत, सदाशिव, महादेव, शकर, महेश्वर, महाव्रती, महापचमुख, मृत्यु जय, अष्टमूर्ति, भूतनाथ, जगदानन्द, जगत्पितामह, जगदेवाधिदेव, जगदीश्वर, जगदादिकन्द, जगद्भास्वत्, जगत्कर्मसाक्षी, जगच्चक्षुष, जयीतनु, अमृतकर, शीतकर, ज्योतिश्चक्रचक्री, महाज्योति, महातमःपार, सुप्रतिष्ठित, स्वयकर्ता, स्वयहर्ता, स्वयपालक, आत्मेश्वर, विश्वात्मा, सर्व-देवमय, सर्वध्यानमय, सर्वमत्रमय, सर्वरहस्यमय, सर्व ज्ञानमय, सर्व तेजोमय, सर्वभावाभावजीवजीवेश्वर, अरहस्यरहस्य, अस्पृहस्पृहणीय, अचिन्त्य-चिन्तनीय, अकामकामधेनु, असकल्पित-कल्पद्रुम, अचिन्त्यचिन्तामणि, चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकचूडामणि, चतुरशीतिजीवयोनिलक्षप्राणनायक, पुरुषार्थनाथ, परमार्थनाथ, अनाथनाथ, जीवनाथ, देवदानवमानवसिद्धसेनाधिनाथ, निरजन, अनन्तकल्याण, निकेतनकीर्ति, सुगृहीतनामधेय, धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरशान्त, धीरललित, पुरुषोत्तम, पुण्यश्लोक, शतसहस्र-लक्षकोटिवन्दित-पादारविन्द, सर्वगत, सर्वप्राप्त, सर्वज्ञान, सर्वसमर्थ, सर्वप्रद, सर्वहित, सर्वाधिनाथ, क्षेत्र, पात्र, तीर्थ, पावन, पवित्र, अनुत्तर, उत्तर, योगाचार्य, सुप्रक्षालन, प्रवर, अग्र, वाचस्पति, मागल्य, सर्वात्मनाथ, सर्वार्थ, अमृत, सदोदित, ब्रह्मचारी, तायी, दाक्षिणीय, निर्विकार, वज्रर्षभ-नाराचमूर्ति, तत्त्वदृश्वा, पारदर्शी, निरुपमज्ञानबलवीर्यतेजोऽनन्तैश्वर्यमय आदि-पुरुष, आदिपरमेष्ठी, आदिमहेश, महाज्योति सत्व, महार्चिधनेश्वर, महामोहसहारी, महासत्त्व, महाज्ञानमहेन्द्र, महालय, महाशान्त, महायोगीन्द्र, अयोगी, महामहीयान्, महासिद्ध, महीयान्, शिव-अचल-अरुज - अनन्त - अक्षय - अव्याबाध - अपुनरावृत्ति - महानन्द - महोदय - सर्वदु खक्षय - कैवल्य - अमृत - निर्वाण - अक्षर - परब्रह्म - नि श्रेयस् - अपुनर्भव, सिद्धिगतिनामधेयस्थान - सप्राप्त, चरमाचरमवान् - आदिनाथ, त्रिजगन्नाथ, त्रिजगत्स्वामी, विशाल-शासन, निर्विकल्प, सर्व लब्धिसपन्न, कल्पनातीत, कलाकलापकलित, केवलज्ञानी, परमयोगी, विस्फुरदुरुशुक्लध्यानाग्नि-निर्दग्धकर्मबीज, प्राप्तानन्तचतुष्टय, सौम्य, शात, मगलवरद्, अष्टादशदोषरहित, समस्त - विश्वसमोहित ।

श्री जिन-नाम-स्तवन—

ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नम ।।

श्री जिनेश्वर देव की स्तवना करते हुए श्री जिन-सहस्रनाम मत्र के अन्त मे आचार्य - पुरन्दर श्री सिद्धसेनदिवाकर सूरीश्वरजी महाराज ने बताया है कि—

"लोकोत्तमो निष्प्रतिमस्त्वमेव, त्व शाश्वत मङ्गलमप्यधीश ।
त्वामेकमर्हन् ! शरण प्रपद्ये, सिद्धर्षिसद्धर्ममयस्त्वमेव ।।१।।"

हे अधीश ! आप लोकोत्तम हैं, निष्प्रतिम हैं, शाश्वत हैं और मगल हैं। हे अर्हन् ! मैं आपका शरण अगीकार करता हूँ, आप ही सिद्धर्षि एव सद्धर्ममय है। (१)

"त्व मे माता पिता नेता, देवो धर्मो गुरु पर· ।
प्राणा स्वर्गोऽपवर्गश्च, सत्त्व तत्त्व गतिर्मति ।।२।।"

आप मेरी माता हैं, पिता हैं, नेता है, देव हैं, धर्म हैं, परम गुरु है, प्राण हैं, स्वर्ग एव अपवर्ग हैं, सत्त्व हैं, तत्त्व हैं, गति हैं और मति है। (२)

"जिनो दाता जिनो भोक्ता, जिन सर्वमिद जगत् ।
जिनो जगति सर्वत्र, यो जिनः सोऽहमेव च ।।३।।"

जिन दाता है, जिन भोक्ता है और समस्त जगत् जिन है, जगत मे सर्वत्र जिन है, जो जिन है वह मैं स्वय ही हूँ। (३)

"यत् किञ्चित् कुर्महे देव !, सदा सुकृतदुष्कृतम् ।
तन्मे निजपदस्थस्य, दु.ख क्षपय त्वं जिन ! ।।४।।"

हे देव ! हम जो सुकृत - दुष्कृत करते हैं, आपके चरणो मे स्थित हमारे उन दु खो का हे जिनेश्वर ! आप क्षय करें। (४)

"गुह्यातिगुह्यगोप्ता त्व, गृहाणास्मत्कृत जपम् ।
सिद्धि· श्रयति मां येन, त्वत्प्रसादात् त्वयि स्थितम् ।।५।।"

आप अत्यन्त गुह्य से भी गुह्य रक्षक हैं। हमारे द्वारा किये गये इस जाप को आप ग्रहण करें, जिससे आपकी कृपा (प्रसाद) से आप मे स्थित हमें सिद्धि प्राप्त हो। (५)

—०—

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

सन् १९८८ एवं १९८९ के नये प्रकाशन

प्रा भा पु	पुस्तक	लेखक	मूल्य
44	वज्जालग्ग मे जीवन मूल्य (प्रा हि)	डा के सी. सोगाणी	10 00
45	गीता चयनिका (स हि)	डा. के. सी सोगाणी	16 00
46	ऋषिभाषित सूत्र (प्रा हि अ)	स म विनय सागर	100 00
47	नाडि विज्ञानम्		
48	तथा नाडि प्रकाशम् (स अ)	डा. जे सी सिकदर	30 00
49.	ऋषिभाषित एक अध्ययन (हि)	डा सागरमल जैन	30 00
50	उववाइय सुत्त (प्रा हि अ)	स गणेश ललवानी	
		सजिल्द	100.00
		अजिल्द	80 00
51	उत्तराध्ययन चयनिका (प्रा. हि)	डा. के. सी सोगाणी	10 00
52.	समयसार चयनिका (प्रा हि.)	डा के सी सोगाणी	16 00
53	परमात्मप्रकाश व योगसार चयनिका (प्रा हि)	डा. के सी सोगाणी	10 00
54.	ऋषिभाषित ए स्टडी (अ)	डा सागरमल जैन	30 00
55	अर्हत् - वदना (हि)	म चन्द्र प्रभ सागर	3 00
56	राजस्थान मे स्वामी विवेकानन्द	प झाबरमल्ल शर्मा	75 00
57	श्री आनन्दघन चौबीसी (रा हि.)	स भवरलाल नाहटा	30 00
58	देवचन्द्र चौबीसी सानुवाद (रा हि)	प्र. सज्जन श्री जी	60 00
59	सर्वज्ञ कथित परम सामायिक धर्म (हि.)	विजयकला पूर्ण सूरि	30 00
60	दु ख मुक्ति · सुख प्राप्ति (हि)	कन्हैयालाल लोढा	30 00
61	गाथा सप्तशती (प्रा. स हि)	स. हरिराम आचार्य	100 00
62	त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र (हि)	गणेश ललवानी	100 00
63	योगशास्त्र ऑफ हेमचन्द्राचार्य (स अ)	स सुरेन्द्र बोथरा	100.00
64.	जिन-भक्ति (प्रा स हि)	अ भद्र कर विजय गणि	25 00
65	सहजानन्द घन चरिय (अप)	भंवरलाल नाहटा	20 00
66.	आगम युग का जैन दर्शन	दलसुख भाई मालवणिया	
		सजिल्द	80 00
		अजिल्द	60 00

प्राकृत भारती पुष्प-64

श्री सिद्धसेन दिवाकर-सिद्धर्षिगणि-हेमचन्द्राचार्यादि
पूर्वाचार्यों द्वारा रचित ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति
रस से परिपूर्ण नव स्तोत्रो का सकलन

जिन-भक्ति

[हिन्दी अनुवाद एवं महिमा सहित]

संग्राहक एवं अनुवादक
प्रशान्तमूर्ति प प्र. श्री भद्रकरविजयजी गणि

प्रकाशक
प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
जैन श्वे. नाकोडा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर
मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

● प्रकाशक

देवेन्द्रराज मेहता
सचिव
प्राकृत भारती अकादमी,
3826, मोतीसिंह भोमियो का रास्ता,
जयपुर-302003

● **पारसमल भंसाली**
अध्यक्ष
श्री जैन श्वे नाकोडा पार्श्वनाथ तीर्थ,
मेवानगर, स्टे वालोतरा-344025
जि वाडमेर

● **नरेन्द्र प्रकाश जैन**
पार्टनर
मोतीलाल बनारसीदास,
बंगलो रोड, जवाहर नगर,
दिल्ली-110007

● हिन्दी अनुवादक : **नैनमल विनयचन्द्र सुराणा**

● **प्रथम संस्करण : अक्टूबर 1989**

● **मूल्य : रु. 30 00**

● **मुद्रक : एम. एल. प्रिण्टर्स, जोधपुर**

प्रकाशकीय

प्रशान्त मूर्ति पन्यासप्रवर श्री भद्रकरविजयजी गणिवर्य द्वारा संकलित एवं अनुदित ज्ञान-वैराग्य एवं भक्तिरस से ओत प्रोत "जिन-भक्ति" नामक पुस्तक प्राकृत भारती के 64वें पुष्प के रूप मे प्रकाशित करते हुए हमे हार्दिक प्रसन्नता है।

शास्त्रकार महर्षियों का कथन है कि उपधान तप करने वाले व्यक्ति को उपधान पूर्ण करने के चिन्ह स्वरूप माल्यार्पण से पूर्व यावज्जीवन गुरु के समक्ष त्रिकाल चैत्यवन्दन और जिन-पूजा करने का अभिग्रह अवश्य अंगीकार करना चाहिये, अर्थात् प्रात काल जब तक श्री जिन-प्रासाद मे जाकर श्री जिनमूर्ति का वन्दन नहीं करे तब तक मुंह मे पानी भी नहीं डालना चाहिये, मध्याह्न काल मे जब तक जिन-प्रासाद मे जाकर श्री जिनमूर्ति की पूजा नही करे तब तक भोजन नहीं करना चाहिए और सायं-काल मे श्री जिन-प्रासाद मे जाकर श्री जिनमूर्ति के समक्ष धूप-दीप आदि से पूजा न करले तब तक नींद नहीं लेनी चाहिये।

जो व्यक्ति त्रिकाल चैत्यवन्दन का अभिग्रह न ले सकता हो उसे भी नित्य नियमित रूप मे एक बार चैत्यवन्दन करने का अभिग्रह तो लेना ही चाहिये। उपधान मे से निकलने के पश्चात् जो व्यक्ति इतना भी नही करे वह उपधान मे अनेक दिनो तक किये गये तप-जप आदि की उत्तम आराधना को चमका नही सकता।

उपधान तप पूर्ण करके बाहर निकलने वाले व्यक्ति को जिन भक्ति की क्रिया नियमित एवं अनिवार्य रूप मे करनी चाहिए और जिन-भक्ति के लिए प्रधान आवश्यकता श्री जिन-स्वरूप को पहचानने की है। श्री जिनेश्वर भगवान का स्वरूप इतना उच्च कोटि का है कि ज्यो-ज्यो उनकी हमे पहचान होती जाती है त्यो-त्यो हमारे हृदय मे उनके प्रति भक्ति के

रूप मे प्रकाशित करवाया था। इस पुस्तक की वर्तमान समय मे हिन्दी भाषियो के लिए अत्युपयोगिता देखकर अध्यात्मरसिक पूज्य आचार्य देव श्री विजयकलापूर्णसूरिजी म ने श्री नैनमल विनयचन्द्र सुराणा से गुजराती का हिन्दी अनुवाद करवाकर, "जिनभक्ति की महिमा" रूप उपोद्घात के साथ प्रकाशनार्थ हमे प्रदान की, एतदर्थ हम पूज्य आचार्य श्री की कृपा के अत्यन्त आभारी है।

नरेन्द्र प्रकाश जैन	पारसमल भसाली	देवेन्द्रराज मेहता
पार्टनर	अध्यक्ष	सचिव
मोतीलाल बनारसीदास	जैन श्वे नाकोडा	प्राकृत भारती अकादमी
दिल्ली	पार्श्वनाथ तीर्थ	जयपुर
	मेवानगर	

—०—

भगवान के सम्मुख स्तुति करते समय उन्होंने स्वयं ने इसका उपयोग किया है ।

तत्पश्चात् कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी द्वारा रचित "अयोग-व्यवच्छेदिका" एव "अन्ययोगव्यवच्छेदिका" नामक दो स्तुतियाँ दी गई है । श्री सिद्धसेन दिवाकर सूरि द्वारा रचित गम्भीर एव गहन स्तुतियों के अनुकरण स्वरूप होने पर भी इन दोनों स्तुतियों को परमोपकारी आचार्य भगवान ने अपनी प्रतिभा से अत्यन्त सरल एव समझ मे आने योग्य स्पष्ट भाषा मे रची है । सम्यक्त्व की परम विशुद्धि एव शासन के प्रति दृढ अनुराग उत्पन्न करने के लिये ये दोनों स्तुतिया अत्यन्त लाभदायक है, ये अत्यन्त प्रबल मिथ्यात्व के विष को उतारने मे समर्थ है तथा कलिकाल के मोहाधकार मे ज्योति भरने के लिये रत्न की दो लघु दीवलियों का कार्य करती है ।

तत्पश्चात् कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी के उपदेश से प्रतिबोधित एव श्री अरिहत भगवान के शासन के परम भक्त महाराजाधिराज श्री कुमारपाल भूपाल द्वारा रचित श्री जिनेश्वर भगवान की हृदयद्रावक स्तुति दी गई है । यह स्तुति प्रत्येक भावुक व्यक्ति को श्री जिनेश्वर देव के साथ तन्मय करके भक्ति रस मे सराबोर करने वाली है । इस स्तुति के 33 पद्य है । इसके द्वारा परमात्मा की स्तवना करने वाले भव्यात्मा को आज भी रोमाच होने लगता है । वह ससार का भान भूल कर श्री जिनेश्वर भगवान के साथ एकात्मता अनुभव करता प्रतीत होता है । इस स्तुति का इस कलियुग मे मुक्ति-दूती का उपनाम दिया जाये तो वह सर्वथा सार्थक होगा ।

तत्पश्चात् न्यायाचार्य, न्याय-विशारद, महोपाध्याय श्री यशोविजयजी द्वारा रचित "परमज्योति" तथा "परमात्म पचविंशतिका" नामक दो स्तुतिया दी गई है । परमात्म-स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले समस्त ग्रन्थों का सक्षिप्त सार इन दो स्तुतियों मे समाविष्ट है—ऐसा कहने मे कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी । ये दो स्तुतियाँ पाठकों मे अपूर्व तत्त्वज्ञान की ज्योति जगमगाने के साथ श्री वीतराग परमात्मा के अद्भुत गुणों का परिचय कराती है ।

तत्पश्चात् कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरीश्वर जी की सुप्रसिद्ध रचना "श्री वीतराग स्तोत्र" दी गई है। इसकी रचना परमार्हत् श्री कुमारपाल भूपाल के दैनिक स्वाध्याय के लिये की गई थी। श्री जिन भक्ति के रसिक प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह कण्ठस्थ करने योग्य है और नित्य श्री जिनेश्वर भगवान के सम्मुख स्तुति करने के लिये उपयोगी है। श्री वीतराग स्तोत्र का आजीवन रटन करने वाले व्यक्ति के हृदय मे से मिथ्यात्व का भूत सदा के लिये भाग जाता है और सम्यक्त्व का सूर्य अपनी सहस्र किरणो के द्वारा चित्त रूपी भवन मे सदा के लिये ज्योति फैलाता है, इसमे तनिक भी आश्चर्य नही है। उसके प्रत्येक प्रकाश मे रचयिता ने भक्ति रस की गगा, वैराग्य रस का निर्भर एव ज्ञानामृत की धारा प्रवाहित की है। उक्त धारा के प्रवाह मे भव्य आत्माओ का मिथ्यात्व-मल धुल जाता है और सम्यक्त्व का प्रकाश जगमगाने लगता है। अन्त मे परिशिष्ट मे श्री जिन स्तवन की महिमा पूर्वपुरुषो के वचनानुसार गुजराती भाषा मे विस्तार पूर्वक बताई गई है। पाठको को उस पर भी चिन्तन-मनन करने का परामर्श दिया जाता है।

श्री जिनभक्ति अत्यन्त कल्याणकारी अपूर्व वस्तु है। श्री जिनगुण-स्तुति उसका एक परम साधन है। इस बात की ओर भव्यात्माओ का ध्यान आकर्षित करने के लिये पूर्व महापुरुषो ने अथक परिश्रम किया है, जिसका समुचित आभास कराने के लिये परिशिष्ट का समावेश किया गया है।

परिशिष्ट का लेखाकन करने मे शास्त्रकार महर्षियो के आशय से विरुद्ध जो कुछ भी लिखा गया हो तथा स्तुतियो के अर्थ लिखने मे न्याय, व्याकरण और सिद्धान्त शास्त्र से विपरीत जो कुछ भी लिखा गया हो उस सबके लिये मिच्छामि दुक्कड देते हुए सज्जनो को हस-चचुवत् सार ग्रहण करने के लिये सूचित करता हू।

मुनि भद्रकरविजय

श्री करमचद जैन पौपधशाला, अधेरी
पोप शुक्ला द्वितीया
वीर सवत् 2468, वि सवत् 1998
दिनाक 20-12-1941

उपोद्घात

जिन भक्ति की महिमा

जिन-भक्ति मुक्ति का प्रधान साधन है। भक्ति की शक्ति अकल्पनीय एवं असीम है। भक्ति की अपूर्व शक्ति के द्वारा समस्त प्रकार की आध्यात्मिक साधना का विकास होता है। भक्ति की शक्ति के द्वारा ही भक्तात्मा को ऐसी युक्ति सूझ जाती है जो उसे मुक्ति का साक्षात्कार कराती है।

अनादि काल से बहिरात्म भाव में रहा हुआ जीव श्री जिनेश्वर परमात्मा की भक्ति के प्रभाव से अन्तरात्म-भाव प्राप्त करके क्रमश परमात्म भाव की ओर उन्मुख होता है।

जिन-भक्ति अर्थात् "श्री जिनेश्वर परमात्मा ही केवल मेरे और समस्त जीवों के परम हित-चिन्तक, परम हित-कारक, सव चिन्ता-चूरक, सब-कार्य-पूरक, भव-सागर-तारक तथा मोक्ष-पद-दायक है" इस प्रकार की अटल श्रद्धा और विश्वास के साथ प्रभु के प्रति हृदय में अनन्त सम्मान एवं आदर प्रकट करना।

परमात्म-भक्ति ही आत्मा को परमात्मा बनाने वाली है—इस सत्य की वास्तविक श्रद्धा जिस व्यक्ति के हृदय में स्थिर हो जाती है, ओतप्रोत हो जाती है, उसे परमात्मा को प्राप्त करने के अतिरिक्त अन्य कोई अभिलाषा अथवा कामना होती ही नहीं है। भक्ति की तन्मयता की आनन्दानुभूति करने वाले भक्त को अन्य वस्तुओं की अपेक्षा प्रभु-भक्ति ही सर्वाधिक प्रिय एवं श्रेष्ठ प्रतीत होती है।

प्रत्येक व्यक्ति में परमात्म-स्वरूप विद्यमान है, छिपा हुआ है। वह प्रकट तब ही होता है, जब आत्मा परमात्मा की शरण में जाती है, वह उसकी भक्ति में एकरूप, एकात्म हो जाती है, उनकी आज्ञा को रोम-रोम में व्याप्त कर लेती है।

शाश्वत सुखमय अनन्त आनन्दमय चिन्मय शुद्ध आत्म-स्वरूप को

प्राप्त करने का अनन्य एव अद्वितीय उपाय परमात्मा की प्रीति, भक्ति और शरणागति ही है ।

परमात्म-भक्ति के अनेक साधन है, उपाय है। अपनी पात्रता, भूमिका के अनुरूप उपाय का सम्मान करने से जीवन मे भक्ति का विकास होता है ।

प्रस्तुत पुस्तक "जिन-भक्ति" मे श्री अरिहन्त परमात्मा के गुणो के स्वरूप, उनका अचिन्त्य प्रभाव, समस्त विश्व पर उनके असख्य उपकार, उनके साथ हमारे सम्बन्ध तथा उनकी स्तुति, वन्दना, अर्चना स्वरूप भक्ति फल आदि पर उत्तम प्रकार से प्रकाश डालने वाले अनेक सस्कृत स्तोत्रो आदि का सग्रह है, तथा साथ ही साथ इसे सुगम बनाने के लिये उनका हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है। इसका एकाग्रता से गान, अर्थ-चिन्तन आदि करने से हमारे हृदय मे श्री अरिहन्त परमात्मा के प्रति प्रेम का प्रवाह तीव्रता से प्रवाहित होने लगता है और हमारी चित्त-वृत्तियाँ निर्मल, शान्त एव स्थिर बनती है ।

सासारिक पदार्थों को हृदय मे स्थान, मान एव भाव देने मे हमारी ही आत्मा का अपमान एव अध पतन होता है। हमारी आत्मा का वास्तविक सम्मान एव उत्थान तो श्री जिनेश्वर परमात्मा की निष्काम आराधना एव उपासना करने से होता है और उस आराधना एव उपासना का प्रारम्भ परमात्मा की प्रीति एव भक्ति से होता हे। इस सत्य को स्वीकार करके जो व्यक्ति परम कल्याणकारी परमात्मा की उपासना मे लीन होता है, वह व्यक्ति अवश्यमेव दिव्य आनन्द की अनुभूति करता हे ।

अध्यात्म योगी तत्वद्रष्टा पूज्यपाद पन्यास प्रवर श्री भद्रकरविजयजी महाराज ने भक्ति-रसिक पुण्यात्माओ के भक्ति-रस मे वृद्धि हो, उसकी पुष्टि हो, इस शुभ उद्देश्य से भक्ति-वर्धक प्राचीन स्तोत्रो का गुजराती अनुवाद सहित सुन्दर सकलन प्रकाशित किया था, जिसका आज हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन हो रहा है। आशा हे हिन्दी भाषी जनता इससे अत्यन्त ही लाभान्वित होगी ।

सकलनकर्ता उन महापुरुष के चरणो मे कृतज्ञ भाव से वन्दन हो ।

—विजयकलापूर्णसूरि

अनुक्रमणिका

	स्तुति	रचयिता	पृष्ठांक
1	श्री वर्द्धमान द्वात्रिंशिका	श्री सिद्धसेनदिवाकरसूरि	1–10
2	श्री जिन स्तवन	श्री सिद्धर्षि गणि	11–16
3	श्री ऋषभपचाशिका	श्री धनपाल महाकवि	17–31
4	अयोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका	श्री हेमचन्द्रसूरि	32–40
5	अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका	श्री हेमचन्द्रसूरि	41–50
6	साधारण जिन स्तवन	श्री कुमारपाल भूपाल	51–59
7	परम-ज्योति-पञ्चविंशतिका	श्री यशोविजय उपाध्याय	60–64
8	परमात्म-पञ्चविंशतिका	श्री यशोविजय उपाध्याय	65–69
9	श्री वीतराग स्तोत्र	श्री हेमचन्द्रसूरि	70–107
10	परिशिष्ट 1, 2, 3		108–123

—o—

जिन-भक्ति

आचार्य-पुरन्दर महावादी श्री सिद्धसेन दिवाकर-रचित

* श्री वर्द्धमानद्वात्रिंशिका *

सदा योगसात्म्यात्समुद्भूतसाम्य ,
प्रभोत्पादितप्राणिपुण्यप्रकाश ।
त्रिलोकीशवन्द्यस्त्रिकालज्ञनेता,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्र ॥१॥

अर्थ—क्षायिक भाव से उत्पन्न ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप योग की तादात्म्यता के अनुभव से जिनमे सदा समर्पण भाव विद्यमान है, जिन्होने केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन की प्रभा से अपने शासन के अन्तर्गत प्राणियो मे धर्म का उद्योत प्रसारित किया है, जो त्रिलोक के स्वामी देवेन्द्र, भूमीन्द्र एव चमरेन्द्रो के लिये भी वन्दनीय है और जो मति, श्रुत, अवधि तथा मन पर्यव ज्ञान-युक्त पुरुषो के स्वामी है, ऐसे सामान्य केवलियो के लिये इन्द्र तुल्य परमात्मा श्री वर्द्धमान स्वामी ही मेरी गति स्वरूप हो—मुझे शरण हो। (१)

शिवोऽथादिसंख्योऽथ बुद्ध पुराण ,
पुमानप्यलक्ष्योऽप्यनेकोऽप्यथैक ।
प्रकृत्याऽऽत्मवृत्याप्युपाधिस्वभाव ,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्र ॥२॥

जुगुप्साभयाज्ञाननिद्राविरत्यं-
गभूहास्यशुग्द्वेषमिथ्यात्वरागैः ।
न यो रत्यरत्यन्तरायै· सिषेवे,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥३॥

अर्थ—निन्दा, भय, अज्ञान, नीद, अविरति, काम-लिप्सा, हास्य, शोक, द्वेष, मिथ्यात्व, राग, रति, अरति, तथा दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय एव वीर्यान्तराय ये पाच अन्तराय इस प्रकार अठारह दोष जिनमे नही हैं वे एक ही परमात्मा जिनेन्द्र मेरी गति रूप हो। (३)

न यो बाह्यसत्त्वेन मैत्रीं प्रपन्न-
स्तमोभिर्न नो वा रजोभि· प्रणुन्नः ।
त्रिलोकीपरित्राणनिस्तन्द्रमुद्रः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥४॥

अर्थ—जो प्रभु बाह्य सत्त्व अर्थात् लौकिक सत्त्व गुण से मित्रता नही रखते, जो अज्ञान रूपी अधकार तथा रजोगुण से भी प्रेरित नही हैं और तीनो लोको की रक्षा करने मे जिनकी मूर्ति आलस रहित है, वे एक ही श्री जिनेन्द्र मेरी गति रूप हो। (४)

हृषिकेश ! विष्णो ! जगन्नाथ ! जिष्णो !,
मुकुन्दाच्युत ! श्रीपते ! विश्वरूप !
अनन्तेति सबोधितो यो निराशैः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥५॥

अर्थ—हे इन्द्रियो के नियता ! हे लोकालोक मे व्याप्त ज्ञान से युक्त ! हे विश्व मे विद्यमान भव्य प्राणियो के नाथ ! हे राग-द्वेष के विजेता ! हे पाप से मुक्त कराने वाले ! हे स्खलन से रहित ! हे केवलज्ञान रूप लक्ष्मी के पति ! हे असख्य प्रदेशो मे अनावृत स्वरूप से युक्त ! हे अनन्त ! आदि सम्बोधनो से निष्काम पुरुषो ने जिन्हे सम्बोधित किया है, ऐसे श्री जिनेन्द्र प्रभु ही मेरी गति हो। (५)

पुराऽनंगकालारिराकाशकेश·,
कपाली महेशो महाव्रत्युमेशः ।
मतो योऽष्टमूर्तिः शिवो भूतनाथः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥६॥

अर्थ—पूर्व मे क्षपक श्रेणी मे आरूढ हुए तब से जो कामदेव रूपी मलिन शत्रु के वैरी हैं, जो लोकाकाश रूपी पुरुषाकार के मस्तक पर विद्यमान सिद्ध शिला पर स्नान करने वाले हैं, जो ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले हैं, जो महान् ऐश्वर्य के भोक्ता हैं, जो महाव्रतधारी हैं, जो केवलज्ञान केवल-दर्शन रूपी पार्वती के पति हैं, जो अष्टकर्मों के क्षय से अष्ट गुणो रूपी शक्तियो से युक्त हैं, जो कल्याण स्वरूप हैं तथा जो समस्त प्राणियो के नाथ हैं, वे परमात्मा जिनेन्द्र एक ही मेरी गति हो। (६)

विधि-ब्रह्म-लोकेश- शभु-स्वयभू-,
चतुर्वक्त्रमुख्याभिधानां विधानाम्।
प्रभोऽथो य ऊचे जगत्सर्गहेतु:,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्र ॥७॥

अर्थ—विश्व के भव्य प्राणियो को मोक्ष मार्ग प्रदान करने मे जो प्रभु निश्चल हेतु रूप हैं और जो विधि, ब्रह्मा, लोकेश, शभु, स्वयभू एव चतुर्मुख आदि नामो के कारण रूप हैं, वे जिनेन्द्र ही एक मेरी गति रूप हो। (७)

न शूल न चाप न चक्रादि हस्ते,
न हास्य न लास्य न गीतादि यस्य।
न नेत्रे न गात्रे न वक्त्रे विकार,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥८॥

अर्थ—जिनके हाथो मे त्रिशूल, धनुष एव चक्र आदि शस्त्र नही हैं, जो हास्य, नृत्य एव गीत आदि से दूर हैं और जिनके नेत्र, देह अथवा मुंह मे विकार नही हैं, वे श्री जिनेन्द्र परमात्मा एक ही मेरी गति हो। (८)

न पक्षी न सिंहो वृषो नापि चाप,
न रोषप्रसादादिजन्मा विडम्ब।
न निन्द्यैश्चरित्रैर्जने यस्य कम्प,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्र. ॥९॥

अर्थ—जिन प्रभु के पक्षी, सिंह तथा वृषभ का वाहन नही है, जिनके पासों का धनुष नही है, जिन्हे रोष एव हर्ष से प्राप्त विडम्बना नही है और निन्दा करने योग्य चरित्रो से जिन्हे लोक मे भय नही है, वे श्री जिनेन्द्र भगवान एक ही मेरी गति हो। (९)

न गौरी न गंगा न लक्ष्मी यदीयं,
वपुर्वा शिरो वाऽप्युरो वा जगाहे ।
यमिच्छाविमुक्तं शिवश्रीस्तु भेजे,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१०॥

अर्थ—जिनकी देह पर गौरी (पार्वती) बैठी हुई नही है, जिनके सिर पर गगा स्थित नही है और जिनके वक्षस्थल मे लक्ष्मी का निवास नही है, किन्तु इच्छाओ से मुक्त जिन प्रभु का मोक्षलक्ष्मी जाप करती है, वे श्री जिनेन्द्र प्रभु एक ही मेरी गति हो। (१०)

जगत्संभवस्थेमविध्वसरूपै-,
रसत्येन्द्रजालैर्न यो जीवलोकम् ।
महामोहकूपे निचिक्षेप नाथः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥११॥

अर्थ—जिन प्रभु ने विश्व की उत्पत्ति, स्थिति एव नाश स्वरूप मिथ्या इन्द्रजालो के द्वारा इस लोक को महा मोह रूपी कुँए मे नही डाला, वे एक ही परमात्मा श्री जिनेन्द्र भगवान मेरी गति हो। (११)

समुत्पत्तिविध्वसनित्यस्वरूपा,
यदुत्था त्रिपद्येव लोके विधित्वम् ।
हरत्वं हरित्व प्रपेदे स्वभावैः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१२॥

अर्थ—जिन तीर्थंकर प्रभु से प्रकट उत्पत्ति, विनाश एव नित्यता (ध्रुवत्व) रूप त्रिपदी ही इस लोक मे स्वभाव से ब्रह्मत्व, शिवत्व एव विष्णुत्व को प्राप्त है, वे श्री जिनेन्द्र प्रभु मेरी गति रूप हो। (१२)

त्रिकालत्रिलोकत्रिशक्तित्रिसन्ध्य-,
त्रिवर्ग-त्रिदेव-त्रिरत्नादिभावैः ।
यदुक्ता त्रिपद्येव विश्वानि वव्रे,
स एक. परात्मा गतिर्मे जिनेद्रः ॥१३॥

अर्थ—जिन भगवान के द्वारा प्रतिपादित त्रिपदी त्रिकाल, त्रिलोक, त्रिशक्ति, त्रिसध्या, त्रिवर्ग तथा त्रिरत्न आदि भावो के द्वारा समस्त विश्व को वरण की हुई है, वे श्री जिनेन्द्र प्रभु ही मेरी गति हो। (१३)

यदाज्ञा त्रिपद्येव मान्या ततोऽसौ,
तदस्त्येव नो वस्तु यन्नाधितिष्ठौ ।
अतो ब्रूमहे वस्तु यत्तद्यदीय,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्र ॥१४॥

अर्थ—जिन भगवान की आज्ञा त्रिपदी ही है, जिसमे उक्त त्रिपदी मानने योग्य है। जो वस्तु त्रिपदी मे व्याप्त है वह वस्तु है, और जो वस्तु त्रिपदी मे अधिष्ठित नही है वह वस्तु भी नही है। अत हम कहते है कि जो वस्तु है वह त्रिपदीमय है, ऐसे श्री जिनेन्द्र भगवान एक ही मेरी गति हो। (१४)

न शब्दो न रूप रसो नापि गन्धो,
नवा स्पर्शलेशो न वर्णो न लिगम् ।
न पूर्वापरत्व न यस्यास्ति सज्ञा,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्र ॥१५॥

अर्थ— जिन श्री जिनेन्द्र भगवान के शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये पाच विषय नही है, जिन प्रभु का श्वेत आदि वर्ण अथवा आकार नही है, जिनका स्त्रीलिंग, पुलिंग अथवा नपुसकलिग कोई लिग नही है, जिन्हे यह प्रथम अथवा यह द्वितीय ऐसी पूर्वापरता नही है तथा जिनके सज्ञा नही है, वे श्री जिनेन्द्र भगवान एक ही मेरी गति हो। (१५)

छिदा नो भिदा नो न क्लेदो न खेदो,
न शोषो न दाहो न तापादिरापत् ।
न सौख्य न दु.ख न यस्यास्ति वाञ्छा,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्र ॥१६॥

अर्थ—जिन भगवान का शस्त्र आदि से छेद नही है, करवत आदि से भेद नही है जल आदि से क्लेद नही है खेद नही है, शोष नही है, दाह नही है, सन्ताप आदि आपत्ति नही है सुख नही है, दुःख नही है, इच्छा नही है, वे एक ही श्री जिनेन्द्र भगवान मेरी गति हो। (१६)

न योगा न रोगा न चोद्वेगवेगा,
स्थितिर्नो गतिर्नो न मृत्युर्न जन्म ।
न पुण्य न पाप न यस्यास्ति बन्ध,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्र ॥१७॥

अर्थ—जिन प्रभु को मन, वचन और काया के योग नही हैं, ज्वर आदि रोग नही है और जिनके चित्त मे उद्वेग का वेग नही है तथा जिन भगवान के आयु की सीमा नही है, पर-भव मे जिनका गमन नही है, जिनकी मृत्यु नही है, जिनका चौरासी लाख जीवयोनि मे जन्म/अवतार नही है, जिनको पुण्य, पाप अथवा बध नही है, वे एक ही श्री जिनेन्द्र मेरी गति हो। (१७)

तपः संयमः सूनृतं ब्रह्म शौचं,
मृदुत्वार्जवाकिंचनत्वानि मुक्तिः।
क्षमैवं यदुक्तो जयत्येव धर्मः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१८॥

अर्थ—जिनके द्वारा कथित तप, सयम, सत्य वचन, ब्रह्मचर्य, अचौर्य, निरभिमान, आर्जव (सरलता), अपरिग्रह, मुक्ति (निर्लोभ) और क्षमा—यह दस प्रकार का धर्म ज्वलन्त है, वे श्री जिनेन्द्र प्रभु एक ही मेरी गति हो। (१८)

अहो विष्टपाधारभूता धरित्री,
निरालम्बनाधारमुक्ता यदास्ते।
अचिन्त्यैव यद्धर्मशक्तिः परा सा,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१९॥

अर्थ—अहो! जिन भगवान् के धर्म की शक्ति अचिन्त्य एव उत्कृष्ट है, जिससे भुवन की आधार रूप यह पृथ्वी आलम्बन और बिना आधार के स्थित है, वे श्री जिनेन्द्र परमात्मा ही मेरी गति हो। (१९)

न चाम्भोधिराप्लावयेद् भूतधात्री,
समाश्वासयत्येव कालेम्बुवाहः।
यदुद्भूत-सद्धर्मसाम्राज्यवश्यः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२०॥

अर्थ—जिन भगवान् से प्रकट सद्धर्म के साम्राज्य के वशीभूत बना समुद्र इस पृथ्वी को डुबोता नही है और उचित समय पर मेघ (बादल) आते रहते हैं, वे ही श्री जिनेन्द्र भगवान् मेरी गति हो। (२०)

न तिर्यग् ज्वलत्येव यत् ज्वालजिह्वो,
यदूर्ध्वं न वाति प्रचण्डो नभस्वान् ।
न जागर्ति यद्धर्मराजप्रताप',
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्र ॥२१॥

अर्थ—जिन भगवान् के धर्मराज का प्रताप ऐसा जागृत है कि जिससे अग्नि तिरछी प्रज्वलित नही होती और प्रचड हवा ऊर्ध्व गति से नही चलती वे एक ही श्री जिनेन्द्र भगवान् मेरी गति हो। (२१)

इमौ पुष्पदन्तौ जगत्यत्र विश्वो-
पकाराय दिष्ट्योदयेते वहन्तौ ।
उरीकृत्य यत्तुर्यलोकोत्तमाज्ञा,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२२॥

अर्थ—जिन लोकोत्तम प्रभु की आज्ञा को अगीकार करके चलने वाले सूर्य एव चन्द्रमा इस विश्व के उपकारार्थ सद्भाग्य से उदय होते हैं, वे एक ही परमात्मा मेरी गति हो। (२२)

अवत्येव पातालजम्वालपातात्,
विधायापि सर्वज्ञलक्ष्मीनिवासान् ।
यदाज्ञाविधित्साश्रितानगभाज ,
स एक' परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्र. ॥२३॥

अर्थ—पालन की जाने की इच्छुक जिन भगवान् की आज्ञा भव्य प्राणियो को सर्वज्ञ लक्ष्मी के निवास रूप देहहीन वना कर अथवा जिन भगवान् की आज्ञा उसे पालन करने के इच्छुक प्राणियो को सर्वज्ञ लक्ष्मी का निवास रूप वना कर नरक-निगोद आदि के कीचड मे गिरने से वचाती है, वे एक ही जिनेन्द्र भगवान् मेरी गति हो। (२३)

सुपर्वद्रुचिन्तामणिकामधेनु-
प्रभावा नृणा नैव दूरे भवन्ति ।
चतुर्थे यदुत्थे शिवे भक्तिभाजा,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेद्र. ॥२४॥

अर्थ—जिन भगवान् से प्रकट चौथे लोकोत्तर (मुक्ति रूपी भाव) कल्याण के सम्वन्ध मे भक्ति-युक्त भव्य प्राणियो के लिये कल्पवृक्ष, चिन्तामणि और कामधेनु प्रभाव भी दूर नही है, वे एक ही जिनेन्द्र भगवान् मेरी गति हो। (२४)

कलिव्यालवह्निग्रहव्याधिचौर-
व्यथावारणव्याघ्रवीथ्यादिविघ्नाः ।
यदाज्ञाजुषां युग्मिनां जातु न स्युः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२५॥

अर्थ—जिन भगवान् के आज्ञा-पालक स्त्री-पुरुषो रूपी युग्मो को क्लेश, सर्प-भय, अग्नि-भय, ग्रह-पीडा, रोग, चोर का उपद्रव, गज-भय और व्याघ्र की श्रेणी अथवा व्याघ्र एव मार्ग का भय आदि विघ्न कदापि नही होते, वे श्री जिनेन्द्र प्रभु एक ही मेरी गति हो। (२५)

अबन्धस्तथैकः स्थितो वा क्षयी वा-,
ऽप्यसद्वा मतो यैर्जडै सर्वथाऽऽत्मा ।
न तेषां विमूढात्मनां गोचरो य',
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२६॥

अर्थ—जो जड मनुष्य आत्मा को सर्वथा कर्म-बध रहित, एक, स्थिर, विनाशी अथवा असत् मानते है, उन मूढ मनुष्यो को जो भगवान् गोचर नही होते, वे एक ही श्री जिनेन्द्र भगवान् मेरी गति हो। (२६)

न वा दुःखगर्भे न वा मोहगर्भे,
स्थिता ज्ञानगर्भे तु वैराग्यतत्त्वे ।
यदाज्ञानिलीना ययुर्जन्मपारं,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्र' ॥२७॥

अर्थ—जिन भगवान् की आज्ञा दु खगर्भित वैराग्य अथवा मोह-गर्भित वैराग्य मे नही रही है, किन्तु ज्ञानगर्भित वैराग्य तत्त्व मे रही है तथा जिनकी आज्ञा मे लीन हुए मनुष्यो ने जन्म-मरण रूप ससार-सागर का पार पा लिया है, वे एक ही श्री जिनेन्द्र भगवान् मेरी गति हो। (२७)

विहायास्रवं सवर सश्रयैव,
यदाज्ञा पराऽभाजि यैर्निर्विशेषैः ।
स्वकस्तैरकार्यैव मोक्षो भवो वा,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२८॥

अर्थ—जिन निर्विशेष (सामान्य) पुरुषो ने "हे जीव! तू आस्रव को छोड कर सवर का आश्रय ले" इस प्रकार की जिन भगवान् की उत्कृष्ट आज्ञा का पालन किया है उन्होने अपना भव/जन्म मोक्ष स्वरूप कर दिया

है, जीवन-मुक्त दशा प्राप्त की है, ऐसे श्री जिनेन्द्र भगवान् एक ही मेरी गति हो। (२८)

शुभध्याननीरैरुरीकृत्य शौचं,
सदाचारदिव्यांशुकैर्भूषिताग· ।
वुधा केचिदर्हन्ति य देहगेहे,
स एक. परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्र ॥२९॥

अर्थ—कोई पण्डित पुरुष शुभ ध्यान रूप जल से पवित्र हो और सदाचार रूपी दिव्य वस्त्रो से अगो को अलकृत करके अपनी देह रूपी मन्दिर मे जिन भगवान् के स्वरूप की पूजा करते है, वे एक ही जिनेन्द्र भगवान् मेरी गति हो। (२९)

दयासूनृतास्तेयनि.सगमुद्रा-,
तपोज्ञानशीलैर्गुरूपास्तिमुख्यैः ।
शुभैरष्टभिर्योऽर्च्यते धाम्नि धन्यैः,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्र. ॥३०॥

अर्थ—जो धन्य पुरुष दया, सत्य, अचौर्य, नि सग मुद्रा, तप, ज्ञान, शील एव गुरु की उपासना इन प्रमुख आठ पुष्पो से जिन भगवान् की ज्ञान-ज्योति मे पूजा करते हैं, वे श्री जिनेन्द्र भगवान् एक ही मेरी गति हो। (३०)

महार्च्चिर्धनेशो महाज्ञा महेन्द्रो,
महाशान्तिभर्त्ता महासिद्धसेन· ।
महाज्ञानवान् पावनीमूर्त्तिरर्हन्,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्र ॥३१॥

अर्थ—हे अर्हन्! आप परम ज्योतिर्मय हैं, कुबेर के समान आत्म-ऋद्धि के स्वामी है, महान् आज्ञायुक्त हैं, महेन्द्र रूप परम ऐश्वर्य के भोक्ता हैं, महा शान्त रस के नायक है, महान् सिद्धो के पर्यायो की सन्तति युक्त हैं, केवलज्ञानी हैं और सवको-पावन करने वाली मूर्ति से युक्त हैं, वे आप श्री जिनेन्द्र प्रभु ही मेरी गति रूप हो। (३१)

महाब्रह्मयोनिर्महासत्त्वमूर्त्ति-,
र्महाहसराजो महादेवदेव. ।
महामोहजेता महावीरनेता,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥३२॥

अर्थ—जो भगवान परब्रह्म के उत्पत्ति-स्थान है, जो महान् धैर्य की मूर्ति है, जो महान् चैतन्य के राजा है, जो चार निकायो के कर्मोपाधि से युक्त महान् देवो के भी देव है, जो महा मोहविजेता है और जो महावीर अर्थात् कर्मक्षय करने मे महान् योद्धा के भी स्वामी है, वे श्री जिनेन्द्र प्रभु ही एक मेरी गति हो। (३२)

(उपसहार काव्यम्)

शार्दूलविक्रीडितम्

इत्थं ये परमात्मरूपमनिशं श्रीवर्द्धमानं जिनम्,
वन्दन्ते परमार्हतास्त्रिभुवने शान्तं परं दैवतम् ।
तेषां सप्तभियः क्व सन्ति दलित दुःखं चतुर्धाऽपि तै-
र्मुक्तैर्यत् सुगुणानुपेत्य वृणुते ताश्चक्रिशक्रश्रियः ॥३३॥

इस प्रकार जो परम श्रावक सदा तीन भुवन मे शान्त परमात्म-स्वरूप एव परम दैवत श्री वर्धमान प्रभु की वन्दना करते हैं, उन श्रावको को सात प्रकार के भय तो भला कैसे हो सकते हैं ? परन्तु वे मुक्त होकर चार प्रकार के दु खो का भी दलन कर देते हैं और अनन्त चतुष्ट्य आदि उत्तम गुणो को प्राप्त करके चक्रवर्ती की एव मोक्ष पर्यन्त की लक्ष्मियो का वरण करते है। (३३)

श्री उपमितिभवप्रपञ्चामहाकथा-रचयिता

श्री सिद्धर्षिगणिविरचितम्

* श्री जिनस्तवनम् *

अपारघोरससार - निमग्नजनतारक !
किमेष घोरससारे, नाथ ! तेविस्मृतो जनः ? ॥१॥

अपार महा भयकर ससार-सागर मे डूबे हुए प्राणियो के तारणहार हे नाथ ! इस भयानक ससार-सागर मे क्या आप मुझे भूल गये ? (१)

सद्भावप्रतिपन्नस्य, तारणे लोकबन्धव !
त्वयाऽस्य भुवनानन्द !, येनाद्यापि विलम्ब्यते ? ॥२॥

हे लोकबधु ! तीनो भुवन को आनन्द देने वाले ! इस कारण मैंने सच्चे भाव से आपको स्वीकार किया है, फिर भी आप ससार से मेरा उद्धार करने मे अब भी विलम्ब कर रहे है ? (२)

आपन्नशरणे दीने, करुणाऽमृतसागर !
न युक्तमीदृश कर्तुं, जने नाथ ! भवादृशाम् ॥३॥

अहो करुणामृत सागर ! शरणागत दीन जन के साथ आपके जैसे को इस प्रकार व्यवहार करना किसी भी तरह उचित नही है। (३)

भीमेऽह भवकान्तारे, मृगशावकसन्निभ. ।
विमुक्तो भवता नाथ !, किमेकाकी दयालुना ? ॥४॥

हे नाथ ! आपके समान दयालु स्वामी ने, इस भयकर भव-वन मे हिरन के बच्चे की तरह मुझे अकेला क्यो छोड दिया है ? (४)

इतश्चेतश्च निक्षिप्त - चक्षुस्तरलतारकः ।
निरालम्बो भयेनैव, विनश्येऽह त्वया विना ॥५॥

इधर-उधर दृष्टि डालता हुआ चचल पुतली वाला निराधार एव भयभीत बना हुआ मैं आपके बिना अवश्य नष्ट हो जाऊँगा। (५)

अनन्तवीर्यसम्भार !, जगदालम्बदायक !
विधेहि निर्भयं नाथ ! मामुत्तार्य भवाटवीम् ॥६॥

हे अनन्त वीर्य के स्वामी ! विश्व के आलम्बन ! नाथ ! आप मुझे भव-वन से बाहर निकाल कर भय-मुक्त करे। (६)

न भास्करादृते नाथ ! कमलाकरबोधनम् ।
यथा तथा जगन्नेत्र !, त्वदृते नास्ति निर्वृतिः ॥७॥

हे नाथ ! जिस प्रकार कमल - वन को विकसित करने वाला सूर्य के अतिरिक्त अन्य कोई नही है, उसी प्रकार हे विश्व-चक्षु ! आपके अतिरिक्त किसी से भी मेरी मुक्ति होने वाली नही है। (७)

किमेष कर्मणां दोषः ?, किं ममैव दुरात्मनः ?
किं वाऽस्य हतकालस्य ?, किं वा मे नास्ति भव्यता ? ॥८॥

हे त्रिलोक-भूषण प्रभु ! क्या यह मेरे कर्मो का दोष है ? अथवा मुझ दुरात्मा का स्वय का दोष है ? अथवा क्या इस अधम काल का दोष है ? अथवा क्या मेरे मे भव्यत्व-भाव नही है ? (८)

किं वा सद्भक्तिनिर्ग्राह्य !, मद्भक्तिस्त्वयि तादृशी ।
निश्चलाऽद्यापि सम्पन्ना, न मे भुवनभूषण ! ॥९॥

अथवा हे सद्भक्ति से प्राप्त होने वाले भुवन-भूषण ! क्या अभी तक आपके प्रति मेरी ऐसी निश्चल भक्ति ही नही हुई है ? (९)

लीलादलितनिःशेषकर्मजाल ! कृपापर !
मुक्तिमर्थयते नाथ !, येनाद्यापि न दीयते ? ॥१०॥

लीला मात्र मे समस्त कर्म-जाल को काट डालने वाले हे कृपालु भगवान् ! क्या उस कारण से मुक्ति माँगने पर भी आप अभी तक मुझे मुक्ति प्रदान नही करते ? (१०)

स्फुट च जगदालम्ब !, नाथेद ते निवेद्यते ।
नास्तीह शरणं लोके, भगवन्तं विमुच्य मे ॥११॥

विश्व के आलम्बन हे प्रभु ! मैं स्पष्ट कह रहा हूँ कि इस लोक मे आपके अतिरिक्त अन्य कोई भी मुझे शरणदाता नही है। (११)

त्व माता त्व पिता बन्धु-, स्त्व स्वामी त्व च मे गुरु ।
त्वमेव जगदानन्द !, जीवित जीवितेश्वर ! ॥१२॥

हे जगदानन्द ! हे जीवितेश्वर ! आप मेरी माता हैं, आप मेरे पिता है, आप मेरे बधु है, आप मेरे स्वामी हैं, आप मेरे गुरु हैं और आप ही मेरे जीवन हैं। (१२)

त्वयाऽवधीरितो नाथ !, मीनवज्जलवर्जिते ।
निराशो दैन्यमालम्ब्य, म्रियेऽह जगतीतले ॥१३॥

हे नाथ ! आपसे तिरस्कृत बना मैं हताश होकर जल-विहीन मछली की तरह निराधार होकर पृथ्वी पर मृत्यु का ग्रास हो जाऊँगा। (१३)

स्वसवेदनसिद्ध मे, निश्चले त्वयि मानसम् ।
साक्षाद्भूतान्यभावस्य, यद्वा किं ते निवेद्यताम् ? ॥१४॥

हे भगवान् ! आपको निश्चल पाकर मेरा मन आप मे लीन हो गया है, इसका मुझे व्यक्तिगत अनुभव है अथवा अन्य प्राणियो के भावो के साक्षात् ज्ञाता आपको क्या कुछ भी कहने की आवश्यकता है ? (१४)

मच्चित्त पद्मनाथ !, दृष्टे भुवनभास्करे ।
त्वयीह विकसत्येव, विदलत्कर्मकोशकम् ॥१५॥

हे नाथ ! तीन भुवन मे सूर्य के समान आपको देख कर कमल को तरह मेरा चित्त यहा कर्म-कोश को भेद कर अवश्य विकसित होता है।(१५)

अनन्तजन्तुसन्तान - व्यापाराक्षणिकस्य ते ।
ममोपरि जगन्नाथ !, न जाने कीदृशी दया ! ॥१६॥

हे जगन्नाथ ! अनन्त प्राणियो के समूह के व्यापार के सम्बन्ध मे आप व्यापृत प्रभु की मुझ पर कैमी दया है, यह मैं नही जानता। (१६)

समुन्नते जगन्नाथ !, त्वयि सद्धर्मनीरदे ।
नृत्यत्येव मयूरा भो, मद्दोर्दण्डशिखण्डिक ॥१७॥

हे जगन्नाथ ! सद्धर्म रूपी बादलो के घिर आने से मेरे भुज-दण्ड रूपी मयूर नृत्य करने लगते है। (१७)

तदस्य किमिय भक्ति ? किमुन्मादोऽयमीदृश ?
दीयता वचने नाथ !, कृपया मे निवेद्यताम् ॥१८॥

हे नाथ ! यह क्या उनकी भक्ति है अथवा पागलपन है ? आप अपने वचनो के द्वारा मुझे बतायें, कृपा करके मुझे कहे । (१८)

मञ्जरीराजिते नाथ !, सच्चूते कलकोकिल ।
यथा दृष्टे भवत्येव, लसत्कलकलाकुलः ।।१६।।

हे नाथ ! मजरी से सुशोभित आम के वृक्ष को देखकर जिस प्रकार मनोहर कोयल कल-कल की ध्वनि करने लगती है, (१६)

तथैष सरसानन्द-बिन्दुसन्दोहदायके ।
त्वयि दृष्टे भवत्येव, मूर्खोऽपि मुखरो जनः ।।२०।।
युग्मम्

उसी प्रकार से सरस आनन्द-बिन्दु के समूह को प्रदान करने वाले आपको देख कर यह मूर्ख व्यक्ति भी वाचाल हो जाता है । (२०)

तदेनं माऽवमन्येथा, नाथासंबद्धभाषिणम् ।
मत्वा जन जगज्ज्येष्ठ !, सन्तो हि नतवत्सलाः ।।२१।।

इस कारण जगत् के हे श्रेष्ठ पुरुष ! हे नाथ ! मुझे असम्बद्ध भाषण करने वाला मान कर मेरा तिरस्कार न करे, क्योकि सन्त पुरुष नमन करने वाले प्राणियो के प्रति वत्सलता भाव वाले होते हैं । (२१)

किं बालोऽलीकवाचाल, आलजाल लपन्नपि ।
न जायते जगन्नाथ !, पितुरानन्दवर्धकः ? ।।२२।।

हे जगन्नाथ ! बालक अस्त-व्यस्त, सच्चा-मिथ्या अथवा पागल सा बोलता है तो भी क्या वह पिता के आनन्द मे वृद्धि करने वाला नही होता ? (२२)

तथाऽश्लोलाक्षरोल्लापजल्पाकोऽय जनस्तव ।
किं विवर्धयते नाथ !, तोष किं नेति कथ्यताम् ? ।।२३।।

हे नाथ ! मैं अश्लील अक्षरो के उल्लाप स्वरूप जैसी तैसी भाषा मे बोलता हूँ, जिससे आपके आनन्द मे वृद्धि होती है अथवा नही, यह आप मुझे बतायें । (२३)

अनाद्यभ्यासयोगेन, विषयाशुचिकर्दमे ।
गर्ते सूकरसंकाश, याति मे चटुल मनः ।।२४।।

हे नाथ ! अनादिकालीन अभ्यास से मेरा चचल मन विषय रूप अपवित्र कीचड मे शूकर की तरह चला जाता है। (२४)

न चाहं नाथ ! शक्नोमि, तन्निवारयितुं चलम्।
अतः प्रसीद तद्देवदेव ! वारय वारय ॥२५॥

हे नाथ ! मेरे इस चचल मन को रोकने मे मैं समर्थ नही हूँ। अत हे देवाधिदेव ! मुझ पर कृपा करके उसे विषय रूपी अशुचि मे जाने से रोको, रोको। (२५)

किं ममापि विकल्पोऽस्ति, नाथ ! तावकशासने।
येनैव लपतोऽधीश ! नोत्तर मम दीयते ? ॥२६॥

हे नाथ ! क्या मुझे आपकी आज्ञा के सम्बन्ध मे कोई सन्देह है ? जिसके परिणाम से मैं इतना कहता हूँ तो भी आप मुझे उत्तर नही दे रहे है ? (२६)

आरूढमीयतीं कोटीं, तव किङ्करता गतम्।
मामप्येतेऽनुधावन्ति, किमद्यापि परीषहाः ? ॥२७॥

हे नाथ ! मैं आपका सेवक-पद पा गया—इतने स्तर तक मैं आगे बढा, तो भी अभी तक ये परीषह मेरा पीछा कर रहे हैं, उसका क्या कारण है ? (२७)

किं चामी प्रणताशेष— जनवीर्यविधायक ! ।
उपसर्गा ममाद्यापि, पृष्ठं मुञ्चन्ति नो खला. ? ॥२८॥

समस्त जनो के वीर्य को उत्पन्न करने वाले हे नाथ ! ये दुष्ट उपसर्ग अभी तक मेरा पीछा क्यो नही छोडते ? (२८)

पश्यन्नपि जगत्सर्वं, नाथ ! पुरत संस्थितम्।
कषायारातिवर्गेण, किं न पश्यसि पीडितम् ? ॥२९॥

हे नाथ ! अखिल विश्व को आप देख रहे हैं, फिर भी आपके सम्मुख खडे हुए तथा कषाय रूपी शत्रुओ से पीडित इस सेवक को आप क्यो नही देखते ? (२९)

कषायाभिद्रुत वीक्ष्य, मा हि कारुणिकस्य ते।
विमोचने समर्थस्य, नोपेक्षा नाथ ! युज्यते ॥३०॥

हे नाथ ! मुझे कषायो से पीडित देख कर भी और उनसे छुडाने मे समर्थ होते हुए भी आप जैसे दयालु को मेरी उपेक्षा करना उचित नही है। (३०)

विलोकिते महाभाग !, त्वयि ससारपारगे।
आसितु क्षणमप्येकं, ससारे नास्ति मे रतिः ॥३१॥

हे महाभाग ! ससार से मुक्त हुए आपको देखने के पश्चात् इस ससार मे एक क्षण भर के लिए भी रहने की मेरी रुचि नही है। (३१)

किं तु किं करवाणीह ? नाथ ! मामेष दारुण ।
आन्तरो रिपुसघातः, प्रतिबध्नाति सत्वरम् ॥३२॥

किन्तु हे नाथ ! मैं क्या करू ? इन अन्तरग शत्रुओ का समूह मुझे कठोरता से सत्वर बाध लेता है। (३२)

विधाय मयि कारुण्यं, तदेन विनिवारय।
उद्दामलीलया नाथ ! येनागच्छामि तेऽन्तिके ॥३३॥

हे नाथ ! मुझ पर कृपा करके उस शत्रु-समूह को प्रचड लीला से दूर करो, जिससे मैं आपके समीप पहुँच सकू । (३३)

तवायत्तो भवो धीर !, भवोत्तारोऽपि ते वशः।
एव व्यवस्थिते किं वा, स्थीयते परमेश्वरः ? ॥३४॥

हे धीर ! यह ससार आपके आधार पर है और इस ससार से उद्धार होना भी आपके अधीन है। तो फिर हे परमेश्वर ! आप शान्त क्यो बैठे है ? (३४)

तद्दीयतां भवोत्तारो, मा विलम्बो विधोयताम्।
नाथ ! निर्गतिकोल्लाप, न शृण्वन्ति भवादृशाः ॥३५॥

अत अब मुझे ससार से पार करो, विलम्ब मत करो। हे नाथ ! जिसका अन्य कोई आधार नही है, ऐसे मेरे जैसे व्यक्ति के उद्गार क्या आप जैसे नही सुनेगे। (३५)

सिद्धसारस्वतमहाकविश्रीधनपालविरचिता

श्रीऋषभपंचाशिका

जयजतुकप्पपायव ! चदायव ! रागपकयवरणस्स ।
सयलमुणिगामगामरिण ! तिलोअचूडामरिण ! नमो ते ।।१।।
(जगज्जन्तुकल्पपादप ! चन्द्रातप ! रागपङ्कजवनस्य ।
सकलमुनिग्राम-ग्रामणो-स्त्रिलोकचूडामरणे ! नमस्ते ।।)

विश्व के जीवो को वाछित फल प्रदान करने वाले होने के कारण हे कल्पवृक्ष के समान योगीश्वर !, राग रूपी सूर्य से विकसित होने वाले (कमलो के वन को) उन्मीलित करने वाले होने से (चन्द्रप्रभा) तुल्य परमेश्वर !, हे, सकल कला युक्त मुनिगरण के नायक !, हे स्वर्ग, मर्त्य एव पाताल (अथवा अधोलोक, मध्यलोक एव ऊर्ध्वलोक) रूपी त्रिभुवन की (सिद्ध शिला रूपी) चूडा के लिये (उसके शाश्वत मण्डन रूप होने के कारण) मरिण तुल्य ऋषभदेव स्वामिन् ! आपको मेरा त्रिकरण शुद्धि पूर्वक नमस्कार हो ! (१)

जयरोसजलणजलहर !, कुलहर ! वरणाणदसणसिरीणं ।
मोहतिमिरोहदिणयर !, नयर ! गुणगणाण पउराण ।।२।।
(जय रोषज्वलनजलधर ! कुलगृह ! वरज्ञानदर्शनश्रियो. ।
मोहतिमिरौघदिनकर ! नगर ! गुणगणाना पौराणाम् ।।)

हे क्रोध रूपी अग्नि को शान्त करने मे मेघ के समान !, हे उत्तम (अप्रतिपाति) ज्ञान एव दर्शन रूपी लक्ष्मियो के आनन्दार्थ कुलगृह तुल्य !, हे अज्ञान रूपी अधकार के समूह का अन्त करने मे सूर्य के समान !, हे (तप, प्रशम आदि) गुणो के समुदाय स्वरूप नागरिको के नगर तुल्य ! आपकी जय हो, आप सर्वोत्कृष्ट हो । (२)

दिट्ठो कहवि विहडिए, गंठिम्मि कवाडसंपुडघणंमि ।
मोहधयारचारयगएण जिण ! दिणयरुव्व तुम ॥३॥
(दृष्टः कथमपि विघटिते ग्रन्थौ कपाटसम्पुटघने ।
मोहान्धकारचारकगतेन जिन ! दिनकर इव त्वम् ॥)

अनेक भवो से एकत्रित होने से द्वार के युगल जैसी गाढ राग-द्वेष के परिणाम स्वरूप गाठ का जब अत्यधिक परिश्रम से नाश हुआ, तब हे जिनेश्वर ! २८ प्रकार के मोह रूपी अधकार से व्याप्त कारागृह मे मुझे सूर्य के समान आपका दर्शन हुआ। (३)

भविअकमलाण जिणरवि ! दंसणपहरिसूससताणं ।
दढबद्धा इव विहडति, मोहतम-भमरविंदाइ ॥४॥
(भव्यकमलेभ्यो जिनरवे ! त्वद्दर्शनप्रहर्षोच्छ्वसद्भ्यः ।
दृढबद्धानीव विघटन्ते मोहतमोभ्रमरवृन्दानि ॥)

मिथ्यात्वरूपी रात्रि का नाश करने वाले एव सुमार्ग की ज्योति फैलाने वाले हे जिन-सूर्य ! आपके दर्शन रूपी प्रकृष्ट आनन्द से विकसित भव्य कमलो से दृढता पूर्वक बँधे हुए मोह अधकार रूपी भौरो के समूह मुक्त हो जाते है। (४)

लट्ठत्तणाहिमाणो, सव्वो सव्वट्ठसुरविमाणस्स ।
पइं नाह ! नाहिकुलगर-, घरावयारुम्मुहे नट्ठो ॥५॥
(शोभनत्वाभिमानः सर्व. सर्वार्थसुरविमानस्य ।
त्वयि नाथ ! नाभिकुलकर,-गृहावतारोन्मुखे नष्टः ॥)

हे नाथ ! जब आपने नाभि कुलकर के घर मे अवतार लिया, तब सर्वार्थसिद्ध नामक देव विमान का सौन्दर्य सम्बन्धी समस्त गर्व चूर-चूर हो गया। (५)

पइ चिंतादुल्लहमुक्खसुक्खफलए अउव्वकप्पदुमे ।
अवइन्ने कप्पतरू जयगुरु ! हित्था इव पओत्था ॥६॥
(त्वयि चिन्तादुर्लभमोक्षसुखफलदेऽपूर्वकल्पद्रुमे ।
अवतीर्णे कल्पतरवो जगद्गुरो ! ह्रीस्था इव प्रोषिता ॥)

सकल्प से दुर्लभ मोक्ष-सुख रूपी फल प्रदान करने वाले आप अपूर्व कल्पवृक्ष अवतीर्ण हुए, जिससे हे जगद्गुरु ! कल्पवृक्ष मानो लज्जित हो गये हो उस प्रकार अदृश्य हो गये। (६)

अरएण तइएण, इमाइ ओसप्पिणोइ तुह जम्मे।
फुरिअं कणगमएण, व कालचक्कक्कपासम्मि ।।७।।
(अरकेण तृतीयेनास्यामवसर्प्पिण्या तव जन्मनि।
स्फुरित कनकमयेनेव कालचक्रैकपार्श्वे ।।)

कालचक्र के एक ओर इस अवसर्पिणी काल मे आपके जन्म से तीसरा आरा स्वर्णमय जैसे सुशोभित रहा। (७)

जम्मि तुम अहिसित्तो, जत्थ य सिवसुक्खसपय पत्तो।
ते अट्ठावयसेला, सीसामेला गिरिकुलस्स ।।८।।
(यत्र त्वमभिषिक्तो यत्र च शिवसुखसपद प्राप्तः।
तवाष्टापदशैलौ, शीर्षापीडौ गिरिकुलस्य ।।)

जिस स्वर्ण गिरि पर आपका जन्माभिषेक हुआ वह एक अष्टापद (मेरु) पर्वत तथा जहाँ आपने शिव-सुख की सम्पत्ति प्राप्त की अर्थात् जहाँ आपका निर्वाण हुआ वह विनीता नगरी के समीपस्थ आठ सीढियो वाला दूसरा अष्टापद पर्वत—ये दोनो पर्वत समस्त पर्वतो के समूह के मस्तक पर मुकुट स्वरूप हो गये। (८)

धन्ना सविम्हय जेहिं, झत्ति कयरज्जमज्जणो हरिणा।
चिरधरिअनलिणपत्ताऽभिसेअसलिलेहिं दिट्ठो सि ।।९।।
(धन्या सविस्मय यैर्झटिति कृतराज्यमज्जनो हरिणा।
चिरधृतनलिनपत्राभिषेकसलिलैर्दृष्टोऽसि ।।)

हे जगन्नाथ ! इन्द्र के द्वारा शीघ्र राज्याभिषेक किये गये आपको दीर्घ काल तक कमल के पत्तो के द्वारा अभिषेक (जलधारण) किये हुए जिन युगलिको ने देखा वे धन्य हैं। (९)

दाविअविज्जासिप्पो, वज्जरिआसेसलोअववहारो।
जाओ सि जाण सामिअ, पयाओ ताओ कयत्थाओ ।।१०।।
(दर्शितविद्याशिल्पो व्याकृतशेपलोकव्यवहार।
जातोऽसि यासा स्वामी प्रजास्ता कृतार्था ।।)

जिन्होने (शब्द, लेखन, गणित, गीत आदि) विद्याएँ एव (कुम्भकार आदि) शिल्प बताये है, तथा जिन्होने (कृषि, पशु-पालन, वाणिज्य, विवाह आदि) समस्त प्रकार का लोक-व्यवहार भी समुचित प्रकार से समझाया है, ऐसे आप जिन प्रजा-जनो के स्वामी हुए हैं, वे प्रजाजन भी कृतार्थ है। (१०)

बंधुविहत्तवसुमई, वच्छरमच्छिन्नदिन्नधणनिवहो ।
जह तं तह को अन्नो, निअमधुरं धीर ! पडिवन्नो ॥११॥
(बन्धुविभक्तवसुमतिः वत्सरमच्छिन्नदत्तधननिवह ।
यथा त्वं तथा कोऽन्यो नियमधुरां धीर ! प्रतिपन्न ॥)

जिन्होने (भरत आदि पुत्रो एव सामन्तो रूपी) बन्धुओ मे पृथ्वी का विभाजन कर दिया और जिन्होने निरन्तर एक वर्ष तक धन का दान किया है, ऐसे आपने जिस प्रकार (दीक्षा के समय समस्त पापपूर्ण आचरण के त्याग की) नियमधुरा को धारण किया, उस प्रकार हे धीर ! अन्य कौन धारण कर सकता है ? (११)

सोहसि पसाहिअंसो, कज्जलकसिणाहि जयगुरु जडाहि ।
उवगूढविसज्जिअरायलच्छिबाहच्छडाहिं व ॥१२॥
(शोभसे प्रसाधितांस कज्जलकृष्णाभिर्जगद्गुरो जटाभिः ।
उपगूढविसर्जितराजलक्ष्मीबाष्पच्छटाभिरिव ॥)

हे जगद्गुरु ! राज्यकाल मे आलिगन की हुई और दीक्षा-काल मे त्याग की गई राज्य-लक्ष्मी की मानो अश्रुधारा ही हो उस प्रकार की काजल के समान श्याम जटा से अलकृत स्कधयुक्त आप सुशोभित हो रहे हैं। (१२)

उवसामिआ अणज्जा, देसेसु तए पवन्नमोणेण ।
अभणंत च्चिअ कज्जं, परस्स साहंति सप्पुरिसा ॥१३॥
(उपशमिता अनार्या देशेषु त्वया प्रपन्नमौनेन ।
अभणन्त एव कार्यं परस्य साधयन्ति सत्पुरुषाः ॥)

हे नाथ ! आपने (वहली, अडम्व, इल्लायोनक आदि अनार्य देशो मे) अनार्यो को मौन धारण करके शान्त किये वह सचमुच एक आश्चर्य है, (क्योकि किसी को भी शान्त करने का उपाय वाक्-चातुर्य है, अथवा यह

हे भुवन-प्रदीप ! केवलज्ञान की पूजा के समय भरत ने आपको भी चक्र रत्न के समान देखा, क्योकि विषय-तृष्णा पूज्य जनो को भी मति विभ्रम कराती है। (१७)

> पढमसमोसरणमुहे, तुह केवलसुरवहूकओज्जोआ।
> जाया अग्गेई दिसा, सेवासयमागयसिहि व्व ॥ १८ ॥
> (प्रथमसमवसरणमुखे तव केवल सुरवधू कृतोद्योता।
> जाता आग्नेयो दिशा सेवास्वयमागतशिखीव ॥)

आपके प्रथम समवसरण के महोत्सव मे केवल सुर-सुन्दरियो (की द्युति से) प्रकाशित अग्नि दिशा भक्ति से आकर्षित हो कर स्वत ही आये हुए अग्नि देव के समान हो गई। (१८)

> गहिअवयभगमलिणो, नूणं दूरोणएहिं मुहराओ।
> ठवि(ई) ओ पढमिल्लुअतावसेहिं तुह देसणे पढमे ॥ १९ ॥
> (गृहीतव्रतभङ्गमलिनो नूनं दुरावनतैर्मुखरागः।
> स्थगितः प्रथमोत्पन्नतापसैस्तव दर्शने प्रथमे ॥)

केवलज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् समवसरण मे आपके प्रथम दर्शन होने पर, प्रथम उत्पन्न हुए अत्यन्त विनम्र तापसो ने आपके साथ दीक्षा के समय ग्रहण किये हुए सयम व्रत के भग से मलिन बना अपना चेहरा (नमस्कार के बहाने) सचमुच ढक दिया। (१९)

> तेहिं परिवेढिएण य, वूढा तुमए खण कुलवइस्स।
> सोहा विअडसत्थल — घोलतजडाकलावेण ॥ २० ॥
> (तैः परिवेष्टितेन च व्यूढा त्वया क्षण कुलपतेः।
> शोभा विकटासस्थलप्रेंखज्जटाकलापेन ॥)

तथा (वदनार्थ आये) उन तापसो से घिरे हुए और विशाल स्कध-प्रदेश को स्पर्श करती जटा-समूह युक्त आप क्षण भर के लिए कुलपति के रूप मे सुशोभित हुए। (२०)

> तुह रूव पिच्छता, न हुंति जे नाह ! हरिसपडिहत्था।
> समणा वि गयमण च्चिय, ते केवलिणो जइ न हुति ॥ २१ ॥
> (तव रूप पश्यन्तो न भवन्ति ये नाथ ! हर्षपरिपूर्णा.।
> समनस्का अपि गतमनस्का एव ते केवलिनो यदि न भवन्ति ॥)

हे नाथ ! आपका (सर्वोत्तम) रूप अवलोकन करने वाले (जीव) यदि हर्षित नही होते तो, यदि वे सर्वज्ञ न हो तो फिर वे सज्ञी होते हुए भी सचमुच असज्ञी है। (२१)

पत्ता णिस्सामन्न, समुन्नइ जेहिं देवया अन्ने ।
ते दिति तुम्ह गुणसकहासु हास गुणा मज्झ ।। २२ ।।
(प्राप्ता नि सामान्या समुन्नति यैर्देवका अन्ये ।
ते ददते तव गुणसकथासु हास गुणा मम ।।)

जिन गुणो के द्वारा अन्य देवो ने असाधारण प्रभुता प्राप्त की वे (कल्पित) गुण आपके (सद्‌भूत) गुणो के सकीर्तन के समक्ष मुझे हास्य उत्पन्न करते है। (हरि, हर आदि की प्रभुता कल्पित है, जब कि आपकी प्रभुता का आधार वास्तविक गुण है।) (२२)

दोसरहिअस्स तुह जिण ! निंदावसरमि भग्गपसराए ।
वायाइ वयणकुसलावि, वालिसायति मच्छरिणो ।। २३ ।।
(दोपरहितस्य तव जिन ! निन्दावसरे भग्नप्रसरया ।
वाचा वचनकुशला अपि वालिशायन्ते मत्सरिणः ।।)

हे जिनेश्वर ! वचन कहने मे कुशल मत्सरी लोग भी सर्वथा दोप हीन आपकी निन्दा करने के समय भग्न प्रसार वाली वाणी से चाहे जैसा बोल कर बालक की तरह चेष्टा करते है। (२३)

अणुरायपल्लविल्ले, रइवल्लिफुरतहासकुसुममि ।
तवताविआ वि न मणो, सिंगारवणे तुहल्लीणो ।। २४ ।।
(अनुरागपल्लववति रतिवल्लिस्फुरद्धासकुसुमे ।
तपस्तापितमपि न मन शृगारवने तव लीनम् ।।)

अनुराग रूपी पल्लवो से युक्त और रति रूपी लता पर खिलने वाले हास्य रूपी पुष्पो से युक्त शृगार रूपी वन मे अनशन आदि तपस्या रूपी ताप से तप्त आपका मन वहा लगा नही। (यह आश्चर्य है क्योकि ग्रीष्म ऋतु के ताप से तप्त जन तो वन का आश्रय लेते है।) (२४)

आणा जस्स विलइआ, सीसे सेस व्व हरिहरेहिं पि ।
सो वि तुह झाणजलणे, मयणो मयणं विअ विलोणो ।। २५ ।।
(आज्ञा यस्य विलगिता शीर्षे शेषेव हरिहराभ्यामपि ।
सोऽपि तव ध्यानज्वलने मदनो मदनमिव विलीनः ।।)

जिसकी आज्ञा को हरि एव हर ने भी शेषनाग की तरह शिरोधार्य की है, वह (अप्रतिहत सामर्थ्य वाला) मदन भी आपके शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि मे मोम की तरह पिघल गया । (२५)

पइ नवरि निरभिमाणा, जाया जयदप्पभंजणत्ताणा ।
वम्महनरिंदजोहा, दिट्ठिच्छोहा मयच्छीण ।। २६ ।।
(त्वयि केवल निरभिमाना जाता जगदर्पभञ्जोत्ताना: ।
मन्मथनरेन्द्रयोद्धा दृष्टिक्षोभा मृगाक्षीणाम् ।।)

विश्व के दर्प को चूर करने मे समर्थ कदर्प राजा के योद्धा स्वरूप मृगाक्षियो के कटाक्ष केवल आपके सम्बन्ध मे ही निरभिमानी रहे है, अर्थात् सफल नही हुए । (२६)

विसमा रागद्दोसा, निंता तुरय व्व उप्पहेण मण ।
ठायति धम्मसारहि ! दिट्ठे तुह पवयणे नवर ।।२७।।
(विषमौ रागद्वेषौ नयन्तौ तुरगाविवोत्पथेन मनः ।
तिष्ठतो धर्मसारथे ! दृष्टे तव प्रवचने केवलम् ।।)

जिस प्रकार मिथ्या मार्ग पर (रथ को) लेजाने वाले अश्व, सारथी की चाबुक देख कर सीधे मार्ग पर जाने लगते है, उसी प्रकार से धर्म रूपी रथ के हे सारथी ! जब आपके प्रवचन , सिद्धान्त के दर्शन होते है तब चित्त को कुमार्ग की ओर ले जाने वाले विपम राग एव द्वेष रुक जाते है अर्थात् उनका कोई जोर नही चलता । (२७)

पच्चलकसायचोरे, सइस निहिआसिचक्कधणुरेहा ।
हुति तुह चिचअ चलणा, सरण भीआण भवरन्ने ।।२८।।
(प्रत्यलकषायचौरे. सदासन्निहितासिचक्रधनूरेखौ ।
भवतस्तवैव चरणो शरण भीताना भवारण्ये ।।)

हे भगवन् ! जिसमे प्रबल कषाय रूप चोर बसते है ऐसे भव-वन मे भयभीत जीवो को तलवार, चक्र एव धनुष रूपी रेखाओ से सदा लाछित आपके ही चरण शरण स्वरूप है। (२८)

तुह समयसरब्भट्ठा, भमति सयलासु रुक्खजाईसु।
सारणिजल व जीवा, ठाणट्ठाणेसु वज्झता ।।२६।।
(तव समयसरोभ्रष्टा भ्राम्यन्ति सकलासु रूक्षजातिषु।
सारणिजलमिव जीवाः स्थानस्थानेषु वध्यमाना ।।)

जिस प्रकार सारणी (नीक) का जल समस्त वृक्ष जातियो मे स्थान-स्थान पर वधा हुआ फिरता है उसी प्रकार से हे नाथ ! आपके सिद्धान्त रूप सरोवर से भ्रष्ट जीव चौरासी लाख जीव योनि रूप सकल रुक्ष जाति/कठोर उत्पत्ति स्थानो मे कर्मों के द्वारा स्थान-स्थान पर वधे हुए भ्रमण करते है। (२६)

सलिल (लि) व्व पवयणे तुह, गहिए उड्ढ अहो विमुक्कम्मि।
वच्चति नाह ! कूवय - रहट्टघडिसनिहा जीवा ।।३०।।
(सलिल इव प्रवचने तव गृहीते ऊर्ध्वमधो विमुक्ते।
व्रजन्ति नाथ ! कूपकारघट्टघटीसन्निभा जीवा ।।)

हे नाथ ! कुँए के अरघट्ट की घटी के समान जीव आपके प्रवचन को जब जल के समान ग्रहण करते है तब वे ऊपर (स्वर्ग अथवा मोक्ष मे) जाते है और जब उन्हे छोड देते है तब नीचे (तिर्यंच अथवा नरक मे) जाते है। (३०)

लीलाइ निति मुक्ख, अन्ने जह तित्थिआ तहा न तुम।
तहवि तुह मग्गलग्गा, मग्गति वुहा सिवसुहाइ ।।३१।।
(लीलया नयन्ति मोक्षमन्ये यथा तीर्थिका: तथा न त्वम्।
तथापि तव मार्गलग्ना, मृगयन्ते बुधज्ञ. शिवसुखानि ।।)

जिस प्रकार अन्य बौद्ध आदि दार्शनिक लीला पूर्वक जीवो को मोक्ष मे ले जाते है उस प्रकार आप नही करते हैं, तो भी विचक्षण जन यथार्थ दर्शन, ज्ञान एव चारित्र रूप आपके मार्ग मे लगे हुए मोक्ष-सुखो को खोजते है। (३१)

सारिव्व बंधवहमरणभाइणो जिण ! न हुंति पइ दिट्ठे ।
अक्खेहिं वि हीरता, जीवा ससारफलयम्मि ।।३२।।
(शारय इव बन्धवधमरणभागिनो जिन ! भवन्ति त्वयि दृष्टे ।
अक्षैरपि ह्नियमाणा जीवाः ससारफलके ।।)

जिस प्रकार पाशो से खिचे हुए मोहरे वध, वध, एव मृत्यु के भाजन वनते है उसी प्रकार से हे जिनेश्वर ! इस ससार रूपी फलक मे इन्द्रिय रूपी मोहरो से गतियो मे भ्रमण करते जीव जव आपको (यथार्थ वुद्धि के द्वारा) देखते है तव वे (तिर्यंच और नरक गति से सम्वन्धित) वध, वध, एव मृत्यु के भागी नही होते । (३२)

अवहीरिआ तए पहु ! निति निओगिक्कसखलाबद्धा ।
कालमणत सत्ता, सम कयाहारनीहारा ।।३३।।
(अवधीरितास्त्वया प्रभो ! नयन्ति निगोदैकशृङ्खलाबद्धाः ।
कालमनन्त सत्त्वा. सम कृताहारनीहारा ।।)

(जिस प्रकार कुछ राजपुरुप राजा की अवहेलना होने पर कारागृह मे लोहे की जजीरो मे बँध कर अन्य कैदियो के साथ सम काल मे आहार एव नीहार की क्रियाएँ करने मे अत्यन्त समय खोते है उसी प्रकार से) हे नाथ ! (अव्यवहार राशि के कारण साधन के अभाव मे धर्मोपदेश से वचित रहने के कारण) आप द्वारा तिरस्कृत जीव निगोद रूपी एक ही जजीर से बँध कर एक साथ आहार-नीहार करने मे अनन्त काल खोते है । (३३)

जेहिं तत्रिआण तव-निहि ! जासइ परमा तुमम्मि पडिवत्ती ।
दुक्खाइ ताइ मन्ने, न हु ति कम्म अहम्मस्स ।।३४।।
(यैस्तापिताना तपोनिधे ! जायते परमा त्वयि प्रतिपत्ति ।
दुःखानि तानि मन्ये न भवन्ति कर्माधर्मस्य ।।)

हे तपोनिधि ! जिन दु:खो से पीडित जीवो को आपके प्रति आन्तरिक प्रेम उत्पन्न होता है, वे दु ख अधर्म के कार्य नही है, (परन्तु वे पुण्यानुबधी होने से उल्टे प्रशसनीय है) यह मै मानता हूँ । (३४)

होही मोहुच्छेश्रो, तुह सेवाए धुव त्ति नंदामि ।
ज पुण न वदिअव्वो, तत्थ तुम तेण भिज्जामि ॥३५॥
(भविष्यति मोहोच्छेदस्तव सेवया ध्रुव इति नन्दामि ।
यत् पुनर्न वन्दितव्यस्तत्र त्व तेन क्षीये ॥)

आपकी सेवा मे मेरा मोह अवश्य नष्ट होगा, इस बात का मुझे हर्ष है, परन्तु (मोहोच्छेद होने पर मुझे केवलज्ञान प्राप्त होगा और केवलज्ञानी केवलज्ञानी को नमन नही करता यह नियम होने से मुझ पर अनुपम उपकार करने वाले) आपको भी मैं वन्दन नही कर सकूँगा, अत मैं क्षीण हो रहा हूँ, शोकाकुल हो रहा हूं। (३५)

जा तुह सेवाविमुहस्स, हु तु मा ताउ मह समिद्धीओ ।
अहिआरसपया इव, पेरतविडबणफलाओ ॥३६॥
(यास्तव सेवाविमुखस्य भवन्तु मा ता मम समृद्धय ।
अधिकारसपद इव पर्यन्तविडम्वनफला ॥)

अन्त मे विडम्वना स्वरूप फलदायक राज्याधिकार की सम्पत्तियो के समान सम्पत्ति आपकी सेवा से विमुख (सर्वथा जिन-धर्म से रहित प्रथम गुण स्थान पर रहने वाले मनुष्य आदि) को होती हैं, वे सम्पत्ति मुझे प्राप्त न हो। (३६)

भित्तूण तम दीवो, देव ! पयत्थे जणस्स पयडेइ ।
तुह पुण विवरीयमिण, जईक्कदीवस्स निव्वडिअ ॥३७॥
(भित्वा तमो दोपो देव ! पदार्थान् जनस्य प्रकटयति ।
तव पुनर्विपरोतमिद जगदेकदोपस्य निष्पन्नम् ॥)

हे देव ! दीपक अधकार को भेद कर मनुष्य को पदार्थ देखने मे सहायता करता है, परन्तु विश्व के अद्वितीय दीपक स्वरूप आपका यह (दीपक कार्य) तो विपरीत है, (क्योंकि आप तो प्रथम उपदेश रूपी किरण के द्वारा भव्य जीवो को जोव-अजोव आदि पदार्थो का वोध कराते हैं, और तत्पश्चात् उस प्रकार उन्हे यथार्थ ज्ञान देकर उनके अज्ञान रूपी अधकार का अन्त करते है।) (३७)

मिच्छत्तविसपसुत्ता, सचेयणा जिण ! न हुति किं जीवा ?
कण्णम्मि कमइ जइ किंत्तिअ पि तुह वयणमन्तस्स ॥३८॥
(मिथ्यात्वविषप्रसुप्ताः सचेतना जिन ! न भवन्ति किं जीवाः ?
कर्णयो: क्रामति यदि कियदपि तव वचनमन्त्रस्य ॥)

यदि मिथ्यात्व रूपी विष से मूर्छित जीवो के कानो मे हे वीतराग ! आपकी वाणी रूपी मन्त्र का अमुक अश भी प्रविष्ट हो तो वे जीव (श्री रोहिणेय चोर तथा चिलाती पुत्र की तरह) क्या सचेत नही होते ? (३८)

आयन्निआ खणद्ध , पि पइ थिर ते करति अणुराय ।
परसमया तहवि मण, तुह समयन्नूण न हरंति ॥३९॥
(आकर्णिता. क्षणार्धमपि त्वयि स्थिर ते कुर्वन्त्यनुरागम् ।
परसमयास्तथापि मनस्त्वत्समयज्ञाना न हरन्ति ॥)

अन्य (वैशेपिक, नैयायिक, जैमिनीय, साख्य, सौगत प्रमुख) दार्शनिको के आगम आधे क्षण तक श्रवण करने पर भी आपके प्रति हमारा अनुराग स्थिर रहता है और जिसमे आपके सिद्धातो के ज्ञाताओ के चित्त वे हर नही पाते । (३९)

वाईहिं परिग्गहिआ, करति विमुह खणेण पडिवक्ख ।
तुज्झ नया नाह ! महागय व्व अन्नुन्नसलग्गा ॥४०॥
(वादिभिः परिगृहीता: कुर्वन्ति विमुख क्षणेन प्रतिपक्षम् ।
तव नया नाथ ! महागजा इवान्योन्यसलग्नाः ॥)

हे नाथ ! अश्वो से घिरे हुए तथा परस्पर मिले हुए महान् गज जिस प्रकार शत्रु-सेना को रणभूमि मे से पीछे हटाते है उस प्रकार से अत्यन्त चतुर एव वाद-लब्धि से अलकृत वादियो के द्वारा स्वीकार करते हुए तथा परस्पर सगत से आपके नय क्षण भर मे प्रतिपक्ष को (वाद-विवाद के क्षेत्र से) विमुख करते है । (४०)

पावति जस असमजसा वि वयणेहि जेहिं परसमया ।
तुह समयमहो अहिणो, ते मदा बिंदुनिस्सदा ॥४१॥
(प्राप्नुवन्ति यशोऽसमञ्जसा अपि वचनैर्यैः परसमयाः ।
तव समयमहोदधेस्ते मन्दा बिंदुनिस्यन्दाः ॥)

अन्य दार्शनिको के युक्तिविकल सिद्धात भी (सूर्य-चन्द्र के ग्रहण आदि बता कर) जिन वचनो के द्वारा यश प्राप्त करते हैं, वे वचन सिद्धान्त रूपी महासागर के सामान्य विन्दुओ की बूँदे हैं। (४१)

पइ मुक्के पोअम्मिव, जीवेहि भवन्नवम्मि पत्ताओ ।
अणुवेलमावयामुहपडिएहि विडम्बणा विविहा ॥४२॥
(त्वयि मुक्ते पोत इव जीवैर्भवार्णवे प्राप्ता ।
अनुवेलमापदामुखपतितैर्विडम्बना विविधाः ॥)

(जिस प्रकार सरिता के भीतर पडे हुए जीव जहाज के अभाव मे डूब जाते हैं, दुष्ट जलचर प्राणियो के द्वारा मृत्यु के मुख मे समा जाने आदि की विविध विपत्तिया प्राप्त करते हैं उसी प्रकार हे नाथ !) जिन जीवो ने नौका-तुल्य आपका त्याग किया है वे आपत्तियो मे फँसे हुए जीव ससार-सागर मे विविध विडम्बनाओ को बार-बार प्राप्त करते हैं (४२)

वुच्छ अपत्थिआगय - मच्छभवन्तोमुहुत्तवसिएण ।
छावट्ठी अयराइ, निरतर अप्पइट्ठाणे ॥४३॥
(उषितमप्राथितागममत्स्यभवान्तर्मुहूर्त्तमुषितेन ।
षट्षष्टिः अतराणि (सागरोपमानि) निरन्तरमप्रतिष्ठाने ॥)

(हे देव ! अन्य भवो की तो क्या बात कहूँ) अचानक आये हुए मत्स्य के भव मे अन्तर्मुहूर्त काल तक रह कर मैं (सातवी नरक के) अप्रतिष्ठान नरकावास मे छासठ सागरोपम तक अविच्छिन्न रूप से रहा। (४३)

सीउण्हवासधारा - निवायदुक्खं सुतिक्खमणुभूअ ।
तिरिअत्तणम्मि नाणा - वरणसमुच्छाइएणावि ॥४४॥
(शीतोष्णवर्षधारानिपातदु ख सुतीक्ष्णमनुभूतम् ।
तिर्यक्त्वे ज्ञानावरणसमुच्छादितेनापि ॥)

ज्ञानावरण कर्म से अत्यन्त आच्छादित होकर भी मैंने तिर्यंच के भव मे शीत, ताप एव वर्षा की धारा गिरने का अत्यन्त तीव्र दु ख अनुभव किया। (यह आश्चर्य है) (४४)

अंतो निक्खतेहि, पत्तेहिं पिअकलत्तपुत्तेहिं ।
सुन्ना मणुस्सभवणाडएसु निज्झाइआ अका ।।४५।।
(अन्तर्निष्क्रान्तैः प्राप्तैः (पात्रैः) प्रियकलत्रपुत्रैः ।
शून्या मनुष्यभवनाटकेषु निध्याता अंकाः ।।)

(हे नाथ) मनुष्य भव रूपी नाटको मे मुझे प्राप्त प्रिय पत्नी एव पुत्र वृद्धावस्था से पूर्व मृत्यु के मुख मे समा जाने से मुझे शून्य दिखाई दिया । (४५)

दिट्ठा रिउरिद्धीओ, आणाउ कया महड्ढिअसुराणं ।
सहिआ य हीणदेवत्तणेसु दोगच्चसंतावा ।।४६।।
(दृष्टा रिपुऋद्धय आज्ञाः कृता महर्द्धिकसुराणाम् ।
सोढौ च हीनदेवत्वेषु दौर्गत्यसन्तापौ ।।)

तदुपरान्त (देवलोक मे भी) मैंने शत्रुओ की सम्पत्ति देखी, महर्द्धिक सुरो के शासनो को सिर पर चढाया और (किल्बिषिक जैसे) नीच देव-भव मे दरिद्रता एव सन्ताप सहन किये । (४६)

सिंचतेण भववणं, पल्लट्टा पल्लिआऽरहट्टु व्व ।
घडिसठाणोसप्पिणिअवसप्पिणिपरिगया बहुसो ।।४७।।
(सिञ्चता भववन परिवर्ताः प्रेरिता अरघट्ट इव ।
घटीसस्थानोत्सर्पिण्यवसर्पिणोपरिगता बहुशः ।।)

(हे नाथ ! मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद एव योग, कर्मबध के इन पाच कारण रूपी जल मे) भव-वन का सिंचन करने वाले मैंने अरघट्ट की तरह घटी-सस्थान रूपी उत्सर्पिणी एव अवसर्पिणी से युक्त अनेक पुद्गल परावर्त व्यतीत किये । (४७)

भमिओ कालमणत, भवम्मि भीओ न नाह ! दुक्खाण ।
सपइ तुमम्मि दिट्ठे, जाय च भयं पलाय च ।।४८।।
(भ्रान्त. कालमनन्तं भवे भीतो न नाथ ! दुःखेभ्यः ।
सम्प्रति त्वयि दृष्टे जात च भय पलायितं च ।।)

हे नाथ ! मैं ससार मे अनन्त काल तक भटकता रहा तो भी दु खो से भयभीत नही हुआ, परन्तु अभी जब मैंने आपको देखा तब (क्रोध आदि से होने वाली विडबना का बोध होने पर) भय उत्पन्न हुआ और (साथ ही

गाय शम आदि से दूर कर गरूँगा यह ज्ञान होने पर) वह पलायन भी कर गया। (४८)

जइवि कयत्थो जगगुरु! मज्झत्थो जइवि पत्थेमि।
दाविज्जसु अप्पाण, पुणो वि कइया वि अम्हाण ॥४६॥
(यद्यपि कृतार्थो जगद्गुरो! मध्यस्था यद्यपि तथापि प्रार्थये।
दर्शयेदात्मान पुनरपि कदाचिदप्यस्माकम् ॥)

हे जगद्गुरु! यद्यपि आप कृतार्थ हैं तथा मध्यस्थ है तो भी मैं आपको प्रार्थना करता हूँ कि आप किसी समय अथवा किसी देश मे भी भ्रमण कर हमे अपना दर्शन दे। (४६)

इअ झाणग्गिपलीविअकम्मिंधण! वालवुद्धिणा वि मए।
भन्तीइ थुओ भवभयसमुद्दवोहित्थ! वोहिफलो ॥५०॥
(इति ध्यानाग्निप्रदीपितकर्मेन्धन! वालवुद्धिनाऽपि मया।
भक्त्या स्तुतो भवभयसमुद्रयानपात्र! वोधिफल ॥)

ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा कर्म रूपी ईंधन को प्रज्वलित करने वाले और अत्यन्त दुस्तर भव-भय रूपी समुद्र को पार करने मे यान के समान हे नाथ! मैंने वाल वृद्धि से सम्यक्त्व फल-दायक आपकी इस प्रकार से भक्तिपूर्वक स्तुति की। (५०)

□—□

कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य द्वारा रचित

अयोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका

अगम्यमध्यात्मविदामवाच्यं ।
वचस्विनामक्षवतां परोक्षम् ॥
श्रीवर्धमानाभिधमात्मरूप-
महं स्तुतेर्गोचरमानयामि ॥ १ ॥

अध्यात्मवेत्ताओ के लिए अगम्य, पडितो के लिए अनिर्वचनीय और इन्द्रियो के ज्ञानियो के लिये परोक्ष परमात्म स्वरूप श्री वर्धमान स्वामी को मैं अपनी स्तुति का विषय बनाता हू। (१)

स्तुतावशक्तिस्तव योगिनां न किं ।
गुणानुरागस्तु ममापि निश्चलः ॥
इद विनिश्चित्य तव स्तव वदन् ।
न बालिशोऽप्येष जनोऽपराध्यति ॥ २ ॥

हे भगवान् ! आपकी स्तुति करने मे क्या योगी पुरुष भी असमर्थ नही है ? (असमर्थ होते हुए भी आपके गुणो के प्रति अनुराग से ही योगियो ने आपकी स्तुति की है उस प्रकार से) मेरे हृदय मे भी आपके गुणो के प्रति दृढ अनुराग है, अत मेरे समान मूर्ख व्यक्ति भी आपकी स्तुति करने पर भी अपराध का भागीदार नही होता। (२)

क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्था ।
अशिक्षितालापकला क्व चैषा ॥
तथापि यूथाधिपतेः पथिस्थः ।
स्खलद्गतिस्तस्य शिशुर्न शोच्य ॥ ३ ॥

गम्भीर अर्थ युक्त श्री सिद्धसेन दिवाकर सूरि की स्तुतियाँ कहाँ और अभ्यास रहित मेरी यह वक्तृत्व-कला कहाँ ? तो भी बडे-बडे हाथियो के

मार्ग पर चलने वाला हाथी का बच्चा स्खलित होने पर भी जिस प्रकार चिन्ता का कारण नहीं बनता, उसी प्रकार से यदि मैं भी स्खलित हो जाऊँ तो चिन्ता का कारण नहीं है। (३)

जिनेन्द्र! यानेव विबाधसे स्म,
दुरन्तदोषान् विविधैरुपायैः।
त एक चित्र त्वदसूययेव,
कृता. कृतार्थाः परतीर्थनाथैः ॥४॥

हे जिनेन्द्र! जिन दुरन्त दोषो का आपने विविध उपायो के द्वारा नाश किया है, आश्चर्य है कि उन्ही दोषो को अन्य मतो के देवो ने मानो आपके प्रति ईर्षा से ही स्वीकार कर लिया है। (४)

यथास्थित वस्तु दिशन्नधीश!
न तादृश कौशलमाश्रितोऽसि।
तुरङ्गशृङ्गाण्युपपादयद्भ्यो,
नम परेभ्यो नवपण्डितेभ्य. ॥५॥

हे स्वामिन्! आपने पदार्थों का जैसा है वैसा ही वर्णन किया है, अत आपने अन्य मतावलम्बियो की तरह कोई कुशलता प्रदर्शित नही की। अश्व के सिगो की तरह असभव वस्तुओ को उत्पन्न करने वाले अन्य मत के नूतन पण्डितो को हम नमस्कार करते हैं। (५)

जगत्यनुध्यानबलेन शश्वत,
कृतार्थयत्सु प्रसभ भवत्सु।
किमाश्रितोऽन्यै शरण त्वदन्य,
स्वमासदानेन वृथा कृपालुः ॥६॥

हे पुरुषोत्तम! ध्यान रूपी उपकार के द्वारा तीनो लोको को सदा कृतार्थ करने वाले आपको छोड कर अन्य मतावलम्बियो ने अपना माँस दान करके दयालु कहलाने वालो का शरण क्यो ग्रहण किया है? यह तनिक भी समझ मे नही आता। (यह कटाक्ष बुद्ध पर किया है।) (६)

स्वय कुमार्गंग्लपिता नु नाम,
प्रलम्भमन्यानपि लम्भयन्ति।
सुमार्गग तद्विदमादिशन्त-
मसूययान्धा अवमन्वते च ॥७॥

ईर्षा से अंधे बने मनुष्य स्वय कुमार्ग मे लीन होकर दूसरो को कुमार्ग की ओर ले जाते है और सुमार्ग पर चलने वाले, सुमार्ग के ज्ञाताओ तथा सुमार्ग के उपदेशको का अपमान करते है, यह अत्यन्त खेद की बात है। (७)

प्रादेशिकेभ्यः परशासनेभ्यः,
पराजयो यत्तव शासनस्य।
खद्योतपोतद्युतिडम्बरेभ्यो
विडम्बनेय हरिमण्डलस्य ॥८॥

हे प्रभ ! वस्तु के तनिक अश को ग्रहण करने वाले अन्य दर्शनों के द्वारा आपके मत का पराभव करना एक छोटे से जुगनू के प्रकाश से सूर्य मण्डल का पराभव करने के समान है। (८)

शरण्य ! पुण्ये तव शासनेऽपि,
सदेग्धि यो विप्रतिपद्यते वा।
स्वादौ स तथ्ये स्वहिते च पथ्ये,
संदेग्धि वा विप्रतिपद्यते वा ॥९॥

हे शरणागत आश्रयदाता ! जो मनुष्य आपके पवित्र शासन के प्रति शका एव विवाद करते है, वे सचमुच स्वादिष्ट, अनुकूल एव हितकर भोजन के प्रति शका और विवाद करते है। (९)

हिंसाद्यसत्कर्मपथोपदेशाद-
सर्वविन्मूलतया प्रवृत्तेः।
नृशंसदुर्बुद्धिपरिग्रहाच्च,
ब्रूमस्त्वदन्यागममप्रमाणम् ॥१०॥

हे भगवन् ! हिंसा आदि असत्य कर्मों के उपदेशक होने से, असर्वज्ञो द्वारा कथित होने से तथा निर्दय एव दुर्बुद्धि मनुष्यो द्वारा ग्रहण किये हुए होने से आपसे अन्य मतो के आगम प्रामाणिक नही हैं। (१०)

हितोपदेशात्सकलज्ञक्लृप्ते-
र्मुमुक्षुसत्साधुपरिग्रहाच्च।
पूर्वापरार्थेष्वविरोधसिद्धे-
स्त्वदागमा एव सतां प्रमाणम् ॥११॥

हे भगवन् ! हितकर उपदेशक होने से, सर्वज्ञ कथित होने से, मुमुक्षु एव उत्तम साधु पुरुषो द्वारा अगीकार किए होने से और पूर्वापर पदार्थों के सम्बन्ध मे विरोध रहित होने से आपके आगम ही सत्पुरुषो के लिये प्रमाण है । (११)

क्षिप्येत वान्यैः सदृशीक्रियेत वा,
तवाङ्घ्रिपीठे लुठन सुरेशितुः ।
इद यथावस्थितवस्तुदेशन,
परैः कथकारमपाकरिष्यते ॥१२॥

हे जिनेश्वर ! अन्य वाद वाले आपके चरण कमलो मे इन्द्र के नमस्कार की बात चाहे न मानें अथवा अपने इष्ट देवो मे भी उनकी कल्पना करके चाहे आपकी समानता करे, परन्तु वस्तु के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन रूप आपके गुण का अपलाप वे किस प्रकार करेंगे ? (१२)

तद्दु.षमाकालखलायित वा,
पचेलिम कर्म भवानुकूलम् ।
उपेक्षते यत्तव शासनार्थ-
मयं जनो विप्रतिपद्यते वा ॥१३॥

हे भगवन् ! जो मनुष्य आपके शासन की उपेक्षा करते हैं अथवा उसमे विवाद करते है वे इस पाचवे आरे के कुप्रभाव से ही ऐसा करते हैं अथवा भव-परिभ्रमण के अनुकूल उनके अशुभ कर्मो का उदय समझना चाहिये । (१३)

पर सहस्रा शरदस्तपासि,
युगान्तर योगमुपासता वा ।
तथापि ते मार्गमनापतन्तो,
न मोक्ष्यमाणा अपि यान्ति मोक्षम् ॥१४॥

हे भगवन् ! चाहे अन्य मतावलम्बी हजारो वर्षों तक तप करें अथवा युगान्तर तक योग का अभ्यास करें, तो भी उनको मोक्ष की इच्छा होने पर भी आपके मार्ग का अवलम्बन लिये बिना उन्हे मोक्ष प्राप्त नही हो सकता । (१४)

अनाप्तजाड्यादिविनिर्मितित्व-
सभावनासभविविप्रलम्भाः ।
परोपदेशा परमाप्तक्लृप्त-
पथोपदेशे किमु संरभन्ते ।।१५।।

हे देवाधिदेव ! अनाप्तो की मन्द बुद्धि से रचित एव विसवाद से परिपूर्ण अन्य मतो के उपदेश, परम आप्त आपके द्वारा प्रतिपादित किये गये उपदेशो के समक्ष भला कैसे ठहर सकते है ? (१५)

यदार्जवादुक्तमयुक्तमन्यै-
स्तदन्यथाकारमकारि शिष्यैः ।
न विप्लवोऽय तव शासनेऽभू—
दहो अधृष्या तव शासनश्रीः ।।१६।।

अन्य मतावलम्बियो के गुरुओ ने सरल भाव से जो कुछ भी अयोग्य कथन किया था उसका उनके शिष्यो ने विपरीत ढग से प्रतिपादन किया। हे भगवन् ! उस प्रकार का विप्लव आपके शासन मे नही हुआ। अहो ! आपके शासन की लक्ष्मी का किसी से भी पराभव नही हो सकता। (१६)

देहाद्ययोगेन सदाशिवत्व,
शरीरयोगादुपदेशकर्म ।
परस्परस्पर्धि कथ घटेत,
परोपक्लृप्तेष्वधिदैवतेषु ।।१७।।

हे वीतराग ! देह आदि के अयोग से सदाशिवत्व एव देह आदि के योग से उपदेश-कर्म ये दो परस्पर विरोधी धर्म अन्यो द्वारा कल्पित देवो मे किस प्रकार हो सकते है ? कदापि नही हो सकते। (१७)

प्रागेव देवान्तरसश्रितानि,
रागादिरूपाण्यवमान्तराणि ।
न मोहजन्या करुणामपीश !
समाधिमाध्यस्थ्ययुगाश्रितोऽसि ।।१८।।

राग आदि दोषो ने प्रथम से ही अन्य देवो का आश्रय लिया है। हे अधीश ! समाधि एव मध्यस्थता को जपने वाले आपने मोहजनित करुणा का भी आश्रय नही लिया। (१८)

जगन्ति भिन्दन्तु सृजन्तु वा पुन-
यथा तथा वा पतय प्रवादिनाम् ।
त्वदेकनिष्ठे भगवन् भवक्षय-
क्षमोपदेशे तु पर तपस्विन ॥१६॥

हे भगवन्! अन्य मत वाले देव चाहे जिस प्रकार से जगत् का प्रलय करें अथवा जगत् की उत्पत्ति करें, परन्तु भव-भ्रमण का नाश करने मे समर्थ उपदेश देने मे, आपकी तुलना मे वे बिचारे रक है। (१६)

वपुश्च पर्यङ्कशय श्लथ च,
दृशौ च नासानियते स्थिरे च ।
न शिक्षितेय परतीर्थनाथै-
र्जिनेन्द्र! मुद्रापि तवान्यदास्ताम् ॥२०॥

हे जिनेन्द्र! आपके अन्य गुणो को धारण करना तो दूर रहा, परन्तु अन्य देव पर्यक आसन वाली, अक्कडता रहित देह वाली और नासिका पर स्थिर दृष्टि वाली आपकी मुद्रा तक नही सीख पाए। (२०)

यदीयसम्यक्त्वबलात् प्रतीमो,
भवादृशाना परमस्वभावम् ।
कुवासनापाशविनाशनाय,
नमोऽस्तु तस्मै तव शासनाय ॥२१॥

हे वीतराग! जिसके सम्यक्पने के बल से आप जैसो के शुद्ध स्वरूप का हम यथार्थ दर्शन कर सके है, उन कुवासना रूपी बन्धन के नाशक आपके शासन को हमारा नमस्कार हो। (२१)

अपक्षपातेन परीक्षमाणा,
द्वय द्वयस्याप्रतिम प्रतीमः ।
यथास्थितार्थप्रथन तवैत-
दस्थाननिर्बन्धरस परेषाम् ॥२२॥

हे भगवन्! जब हम निष्पक्ष बन कर परीक्षा करते है तब आपका यथार्थ रूप से वस्तु का प्रतिपादन और अन्य मतावलम्बियो का पदार्थो को विपरीत रूप से कथन करने का आग्रह दोनो वस्तु अप्रतिम प्रतीत होती है। (२२)

अनाद्यविद्योपनिषन्निषण्णै-
विश्रृंखलैश्चापलमाचरद्भिः ।
अमूढलक्ष्योऽपि पराक्रिये य-
स्त्वत्किङ्करः किं करवाणि देव ! ।।२३।।

हे देव ! अनादि अविद्या मे रमे हुए, उच्छृंखल, चपल एव अमूढ लक्ष्य से युक्त पुरुष भी इस तेरे सेवक के द्वारा उचित मार्ग पर नही लाये जा सकते तो अब मैं क्या करूँ ? (२३)

विमुक्तवैरव्यसनानुबन्धाः,
श्रयन्ति यां शाश्वतवैरिणोऽपि ।
परैरगम्यां तव योगिनाथ !
तां देशना भूमिमुपाश्रयेऽहम् ।।२४।।

हे योगियो के नाथ ! स्वभाव से ही वैरी प्राणी भी शत्रुता छोड कर दूसरो के द्वारा अगम्य आपके जिस समवसरण का आश्रय लेते है, उस समवसरण (देशना) भूमि का मैं भी आश्रय ग्रहण करता हूँ। (२४)

मदेन मानेन मनोभवेन,
क्रोधेन लोभेन च सम्मदेन ।
पराजितानां प्रसभ सुराणां,
वृथैव साम्राज्यरुजा परेषाम् ।।२५।।

हे प्रभु ! मद, मान, काम, क्रोध, लोभ एव राग से अत्यन्त पराजित अन्य देवो का साम्राज्य - रोग (प्रभुता की व्यथा) सर्वथा व्यर्थ है। (२५)

स्वकण्ठपीठे कठिनं कुठारं,
परे किरन्तः प्रलपन्तु किंचित् ।
मनीषिणां तु त्वयि वीतराग !
न रागमात्रेण मनोऽनुरक्तम् ।।२६।।

वादी लोग अपने गले मे तीक्ष्ण कुल्हाडी का प्रहार करते हुए कुछ भी कहे, परन्तु हे वीतराग ! बुद्धिमानो का चित्त आपके प्रति केवल राग से ही अनुरक्त हो, ऐसी बात नही है। (२६)

सुनिश्चित मत्सरिणो जनस्य,
न नाथ ! मुद्रामतिशेरते ते ।
माध्यस्थ्यमास्थाय परीक्षका ये,
मणौ च काचे च समानुबन्धा. ॥२७॥

हे नाथ ! जो परीक्षक मध्यस्थता धारण करके काच और मणि में समान भाव रखते हैं वे भी, मत्सरी-मनुष्यों की मुद्रा का अतिक्रमण नहीं करते, यह सुनिश्चित है। (२७)

इमा समक्ष प्रतिपक्षसाक्षिणा–
मुदारघोषामवघोषणा ब्रुवे ।
न वीतरागात्परमस्ति देवत,
न चाप्यनेकान्तमृते नयस्थिति ॥२८॥

मैं प्रतिपक्षी व्यक्तियों के समक्ष यह उदार घोषणा करता हूँ कि वीतराग भगवान के अतिरिक्त अन्य कोई परम देव नहीं है और वस्तु का निरूपण करने के लिए अनेकान्तवाद के अतिरिक्त अन्य कोई नीति-मार्ग नहीं है। (२८)

न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो,
न द्वेषमात्रादरुचि परेषु ।
यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु,
त्वामेव वीर प्रभुमाश्रिता. स्मः ॥२९॥

हे वीर ! केवल श्रद्धा के कारण हमारा आपके प्रति पक्षपात नहीं है, और केवल द्वेष के कारण हमें अन्य देवों के प्रति शत्रुता नहीं है, किन्तु आप्तपन की यथार्थ रूप से परीक्षा करके ही हमने आपका आश्रय लिया है। (२९)

तम स्पृशामप्रतिभासभान,
भवन्तमप्याशु विविन्दते या ।
महेम चन्द्रांशुदृशावदाता–
स्तास्तर्कपुण्या जगदीश वाचः ॥३०॥

हे जगदीश ! अज्ञान रूपी अंधकार में भटकने वाले पुरुषों को जो वाणी आप अगोचर को बताती है, उन चन्द्रमा की किरणों के समान स्वच्छ एवं तर्क से पवित्र आपकी वाणी को हम पूजा करते हैं। (३०)

यत्र तत्र समये यथा तथा,
योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया ।
वीतदोषकलुषः स चेद्भवा-
नेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते ॥३१॥

हे भगवन् ! जिस किसी शास्त्र मे, जिस किसी प्रकार से और जिस किसी नाम से राग-द्वेप रहित देव का वर्णन किया गया हे वह आप एक ही हैं। अत. आपको हमारा नमस्कार है। (३१)

[उपसंहारकाव्यम्]

इद श्रद्धामात्रं तदथ परनिन्दा मृदुधियो,
विगाहन्तां हन्त ! प्रकृतिपरवादव्यसनिनः ।
अरक्तद्विष्टानां जिनवर ! परीक्षाक्षमधिया—
मय तत्त्वालोकः स्तुतिमयमुपाधिं विधृतवान् ॥३२॥

चाहे मृदु बुद्धि वाले मनुष्य इस स्तोत्र को श्रद्धा से रचित समझे और स्वभाव से ही पर-निन्दा के व्यसनी वादी पुरुष चाहे इसे अन्य देवो की निन्दा के लिये रचित माने, परन्तु हे जिनवर ! परीक्षा करने मे समर्थ बुद्धि वाले एव राग-द्वेप से रहित पुरुपो को तत्त्वो को प्रकट करने वाला यह स्तोत्र स्तुति स्वरूप एव धर्म चिन्तन मे कारण स्वरूप है। (३२)

कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य रचित

* अन्ययोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका *

श्रनन्तविज्ञानमतीतदोष-
मबाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम् ।
श्रीवर्धमान जिनमाप्तमुख्य,
स्वयम्भुव स्तोतुमह यतिष्ये ॥१॥

श्रनन्त ज्ञानी, दोष रहित, श्रबाध्य सिद्धान्तो से युक्त, देवताश्रो द्वारा पूजनीय, यथार्थ वक्ताश्रो मे प्रधान एव स्वयभू श्री वर्धमान स्वामी की स्तुति करने का मैं प्रयत्न करू गा (१)

श्रय जनो नाथ ! तव स्तवाय,
गुणान्तरेभ्यः स्पृहयालुरेव ।
विगाहता किन्तु यथार्थवाद-
मेक परोक्षाविधिदुर्विदग्धः ॥२॥

हे नाथ ! परीक्षा करने में स्वय को पण्डित मानने वाला मैं श्रापके श्रन्य गुणो के प्रति श्रद्धालु होते हुए भी श्रापके स्तवन के लिये श्रापके यथार्थवाद नामक गुण का श्रवगाहन करता हूँ । (२)

गुणेष्वसूया दधत. परेऽमी,
मा शिश्रियन्नाम भवन्तमीशम् ।
तथापि सम्मील्य विलोचनानि,
विचारयन्ता नयवर्त्म सत्यम् ॥३॥

हे नाथ ! यद्यपि श्रापके गुणो की ईर्ष्या करने वाले श्रन्य मनुष्य श्रापको स्वामी नही मानते, फिर भी वे सत्य न्याय मार्ग का नेत्रोन्मीलन करके विचार करें । (३)

स्वतोऽनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजो,
भावा न भावान्तरनेयरूपाः ।
परात्मतत्त्वादतथात्मतत्त्वाद्,
द्वय वदन्तोऽकुशलाः स्खलन्ति ॥४॥

पदार्थ स्वभाव से ही सामान्य एव विशेप रूप है। उनमे सामान्य विशेष की प्रतीति कराने के लिये पदार्थान्तर मानने की आवश्यकता नही है। जो अकुशलवादी पररूप एव मिथ्यारूप, सामान्य विशेष को पदार्थ से भिन्न रूप मे बताते है वे न्याय-मार्ग से च्युत होते है। (४)

आदीपमाव्योम समस्वभावं,
स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु ।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्य-
दिति त्वदाज्ञाद्विषता प्रलापाः ॥५॥

दीपक से लगा कर आकाश तक समस्त पदार्थ नित्य अनित्य स्वभाव युक्त है, क्योकि कोई भी पदार्थ स्याद्वाद की मर्यादा का उल्लघन नही करता। ऐसी वस्तु-स्थिति मे भी आपके विरोधी, दीपक आदि को सर्वथा अनित्य एव आकाश आदि को सर्वथा नित्य मानते है, जो प्रलाप स्वरूप है। (५)

कर्त्तास्ति कश्चिद् जगतः स चैकः,
स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः ।
इमाः कुहेवाकविडम्बना स्यु-
स्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ॥५॥

हे नाथ ! जगत का कोई कर्त्ता है, वह एक है, वह सर्वव्यापी है, वह स्वतन्त्र है और वह नित्य है। ये दुराग्रहपूर्ण विडम्बनाएँ उन्ही के लगी हुई हैं, जिनके आप अनुशासक नही है। (६)

न धर्मधर्मित्वमतीवभेदे,
वृत्त्यास्ति चेन्न त्रितयं चकास्ति ।
इहेदमित्यस्ति मतिश्च वृत्तौ,
न गौणभेदोऽपि च लोकबाधः ॥७॥

धर्म एव धर्मी को सर्वथा भिन्न मानने से उनका सम्बन्ध नही हो सकता। यदि कोई कहे कि समवाय सम्बन्ध से परस्पर भिन्न धर्म एव धर्मी का सम्बन्ध होता है तो यह अनुचित है, क्योकि जिस प्रकार धर्म और धर्मी

इस लोक में छल, जाति एव निग्रह-स्थान का उपदेश देकर दूसरो के निर्दोष हेतुओ का खण्डन करने का उपदेश देने वाले गौतम मुनि को भी विरक्त एव कारुणिक माना जाता है। (१०)

न धर्महेतुर्विहितापि हिसा,
नोत्सृष्टमन्यार्थमपोद्यते च।
स्वपुत्रघातान्नृपतित्वलिप्सा–
सब्रह्मचारिस्फुरित परेषाम् ॥११॥

वेद-विहित हिसा धर्म का कारण नही है। अन्य अर्थ के लिए वताया गया उत्सर्ग अन्य अर्थ के लिए अपवाद नही वन सकता। फिर भी अन्य लोगो का उस प्रकार मानना, अपने पुत्र का वध करके राजा वनने की इच्छा के समान है। (११)

स्वार्थावबोधक्षम एव बोधः,
प्रकाशते नार्थकथान्यथा तु।
परे परेभ्यो भयतस्तथापि,
प्रपेदिरे ज्ञानमनात्मनिष्ठम् ॥१२॥

ज्ञान स्वय को और अन्य पदार्थो को भी जान सकता है, अन्यथा किसी भी पदार्थ का ज्ञान नही हो सकता, फिर भी अन्य वादियो के भय से अन्य मतावलम्बियो ने ज्ञान को अनात्म-निष्ठ-स्वसवेदन रहित स्वीकार किया है। (१२)

माया सती चेद् द्वयतत्त्वसिद्धि–
रथासती हन्त कुतः प्रपंच।
मायेव चेदर्थसहा च तत्कि,
माता च वन्ध्या च भवत्परेषाम् ॥१३॥

यदि माया सत् रूप है तो ब्रह्म एव माया दोनो पदार्थो की सिद्धि होती है—अद्वैत की सिद्धि नही हो सकती। यदि माया असत् है तो तीन लोको के पदार्थो की उत्पत्ति नही हो सकती। यदि यह कहे कि माया है और अर्थ क्रिया भी करती है, तो एक ही स्त्री माता है और वन्ध्या (बाँझ) भी है, क्या आपके विरोधियो का कथन इस प्रकार का सिद्ध नही होता? (१३)

अनेकमेकात्मकमेव वाच्यं,
द्वयात्मक वाचकमप्यवश्यम् ।
अतोऽन्यथा वाचकवाच्यक्लृप्ता–
वतावकाना प्रतिभाप्रमादः ।।१४।।

जिस प्रकार समस्त पदार्थ अनेक होते हुए भी एक है, उसी प्रकार से उन पदार्थों को बताने वाले शब्द भी द्वयात्मक-एक एव अनेक स्वरूप हैं । आपके सिद्धान्त को नही मानने वाले और वाच्य एव वाचक सम्बन्धी उससे विपरीत कल्पना करने वाले प्रतिवादी बुद्धि मे प्रमाद भाव धारण करने वाले हैं । (१४)

चिदर्थशून्या च जडा च बुद्धिः,
शब्दादितन्मात्रजमम्बरादि ।
न बन्धमोक्षौ पुरुषस्य चेति,
कियज्जडैर्न ग्रथित निरोधि ।।१५।।

चेतना स्वय पदार्थों को नही जानती । बुद्धि जड स्वरूप है । शब्द से आकाश, गध से पृथ्वी, रस से जल, रूप से अग्नि और स्पर्श से वायु उत्पन्न होती है तथा बध अथवा मोक्ष पुरुष को नही होता, ऐसी कितनी विपरीत कल्पना जड मनुष्यो ने नही की ? (१५)

न तुल्यकालः फलहेतुभावो,
हेतौ विलीने न फलस्य भाव ।
न सविदद्वैतपथेऽर्थसविद्,
विलूनशीर्णं सुगतेन्द्रजालम् ।।१६।।

कार्य एव कारण दोनो साथ नही रह सकते । कारण का नाश होने पर भी फल की उत्पत्ति नही हो सकती । जगत् को यदि विज्ञान स्वरूप माना जाये तो पदार्थों का ज्ञान नही हो सकता । इस प्रकार बुद्ध का इन्द्रजाल भी विलीन हो जाता है । (१६)

विना प्रमाण परवन्न शून्यः,
स्वपक्षसिद्धेः पदमश्नुवीत ।
कुप्येत्कृतान्तः स्पृशते प्रमाण–
महो सुदृष्ट त्वदसूयिदृष्टम् ।।१७।।

शून्यवादी प्रमाण के बिना अन्यवादियो की तरह अपना मत सिद्ध नही कर सकता । यदि वह किसी प्रमाण को माने तो स्वय द्वारा मान्य

शून्यता का सिद्धान्त, कृतान्त की तरह कुपित होता है। हे भगवन् ! आपके मत के ईर्षालु मनुष्यो ने कुमति ज्ञान रूपी नेत्रो से जो कुछ जाना है, वह मिथ्या होने के कारण उपहासास्पद है। (१७)

कृतप्रणाशाकृतकर्मभोग-
भवप्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान् ।
उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभङ्गमिच्छ-
न्नहो महासाहसिकः परस्ते ॥१८॥

आपके प्रतिपक्षी क्षणिकवादी, बौद्ध क्षणिकवाद को स्वीकार करके अकृतकर्म-भोगदोष, कृतप्रणाश-दोष, भव-भग-दोष, मुक्ति-भग-दोष और स्मरण-भग-दोष आदि अनुभव सिद्ध दोषो की उपेक्षा करके अपना मत स्थापित करने के लिये अत्यन्त साहस करते है, यह सचमुच आश्चर्य है। (१८)

सा वासना सा क्षणसन्ततिश्च,
नाभेदभेदानुभयैर्घटेते ।
ततस्तटादर्शिशकुन्तपोत-
न्यायात्त्वदुक्तानि परे श्रयन्तु ॥१९॥

वासना एव क्षण सन्तति, परस्पर भिन्न, अभिन्न एव अनुभव, इन तीन भेदो मे से किसी भी भेद से सिद्ध नही होती। जिस प्रकार समुद्र में जहाज से उडा पक्षी समुद्र का किनारा नही दिखाई पडने से पुन जहाज पर ही आ बैठता है, उसी प्रकार से उपायान्तर नही होने से बौद्ध लोग अन्त मे आपके ही सिद्धान्त का आश्रय लेते है। (१९)

विनानुमानेन पराभिसन्धि-
मसंविदानस्य तु नास्तिकस्य ।
न साम्प्रत वक्तुमपि क्व चेष्टा,
क्व दृष्टमात्रं च हहा ! प्रमादः ॥२०॥

बिना अनुमान के अन्य व्यक्तियो का अभिप्राय नही समझ सकने वाले चार्वाक लोगो को बोलने की चेष्टा करना उचित नही है। कहा चेष्टा और कहा प्रत्यक्ष ? इन दोनो के मध्य अत्यन्त अन्तर है। इसे नही समझने वालो का कैसा प्रमाद है ? (२०)

प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगि-
स्थिरैकमध्यक्षमपीक्षमाणः ।
जिन ! त्वदाज्ञामवमन्यते यः,
स वातकी नाथ ! पिशाचकी वा ॥२१॥

हे नाथ ! प्रत्येक क्षण उत्पन्न होने वाले, नष्ट होने वाले तथा स्थिर रहने वाले पदार्थों को देख कर भी हे जिन ! जो लोग आपकी आज्ञा की अवहेलना करते हैं वे वायु अथवा पिशाच से ग्रस्त है। (२१)

अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्व-
मतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम् ।
इति प्रमाणान्यपि ते कुवादि-
कुरङ्गसन्त्रासनसिंहनादाः ॥२२॥

प्रत्येक पदार्थ मे अनन्त धर्म हैं—यह नही मानने से वस्तु की सिद्धि नही हो सकती। इस प्रकार आपके प्रमाण-भूत वाक्य कुवादी रूपी मृगो मे भय (त्रास) उत्पन्न करने के लिये सिह की गर्जना के समान हैं। (२२)

अपर्ययं वस्तु समस्यमान-
मद्रव्यमेतच्च विविच्यमानम् ।
आदेशभेदोदितसप्तभङ्ग-
मदीदृशस्त्वं बुधरूपवेद्यम् ॥२३॥

यदि वस्तु का सामान्यतया कथन किया जाये तो प्रत्येक वस्तु पर्याय रहित है। यदि वस्तु की विस्तारपूर्वक प्ररूपणा की जाये तो प्रत्येक वस्तु द्रव्य रहित है। इस प्रकार सकलादेश और विकलादेश के भेद से पडित लोग समझ सकें वैसे सात भगो की आपने प्ररूपणा की है। (२३)

उपाधिभेदोपहितं विरुद्ध,
नार्थेष्वसत्त्वं सदवाच्यते च ।
इत्यप्रबुध्यैव विरोधभीता,
जडास्तदेकान्तहताः पतन्ति ॥२४॥

प्रत्येक पदार्थ मे अस्तित्व, नास्तित्व एव अवक्तव्यत्व रूप परस्पर विरुद्ध धर्मों का प्रतिपादन अपेक्षा भेद से विरुद्ध नही है। विरोध से भयभीत बने एकान्तवादी मूर्ख लोग इस सिद्धान्त को नही समझने के कारण ही न्याय-मार्ग से पतित होते हैं। (२४)

स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं,
वाच्यं न वाच्य सदसत्तदेव ।
विपश्चितां नाथ ! निपीततत्त्व-
सुधोद्‌गतोद्‌गारपरम्परेयम् ॥२५॥

हे विद्वान्-शिरोमणि ! प्रत्येक वस्तु किसी अपेक्षा से अनित्य है, किसी अपेक्षा से नित्य है, किसी अपेक्षा से सामान्य है, किसी अपेक्षा से विशेष है, किसी अपेक्षा से वाच्य है, किसी अपेक्षा से अवाच्य है, किसी अपेक्षा से सत् है और किसी अपेक्षा से असत् है । अनेकान्त-तत्व रूपी अमृत के पान से निकली हुई यह उद्‌गारो की परम्परा है । (२५)

य एव दोषाः किल नित्यवादे,
विनाशवादेऽपि समास्त एव ।
परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु,
जयत्यधृष्य जिन ! शासनं ते ॥२६॥

वस्तु को सर्वथा नित्य मानने मे जो दोष आते है, वे ही दोष सर्वथा अनित्य मानने में भी आते है । जिस प्रकार एक काटा (शूल) दूसरे काटे का नाश करता है, उसी प्रकार से नित्यवादियो और अनित्यवादियो के पारस्परिक दूषण बता कर एक दूसरे का निराकरण करने पर भी हे जिन ! आपका अधृष्य शासन बिना परिश्रम के विजय प्राप्त करता है । (२६)

नैकान्तवादे सुखदुःखभोगौ,
न पुण्यपापे न च बन्धमोक्षौ ।
दुर्नीतिवादव्यसनासिनैव,
परैर्विलुप्तं जगदप्यशेषम् ॥२७॥

एकान्तवाद मे सुख-दु ख का उपभोग घट नही सकता और पुण्य-पाप तथा बध-मोक्ष की व्यवस्था भी नही घट सकती । सचमुच, एकान्तवादी लोगो ने दुर्नयवाद मे आसक्ति रूपी खड्ग से सम्पूर्ण विश्व का नाश किया है । (२७)

सदेव सत् स्यात्सदिति त्रिधार्थो,
मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः ।
यथार्थदर्शी तु नयप्रमाण-
पथेन दुर्नीतिपथं त्वमास्थः ॥२८॥

पदार्थ सर्वदा सत् तथा कथचित् सत् है। इस प्रकार पदार्थों का ज्ञान क्रमश दुर्नय, नय एव प्रमाण मार्ग के द्वारा होता है, किन्तु हे भगवन् ! आप यथार्थदर्शी ने नय मार्ग एव प्रमाण मार्ग के द्वारा दुर्नय-वाद का निराकरण किया है। (२८)

मुक्तोऽपि वाऽभ्येतु भव भवो वा,
भवस्थशून्योऽस्तु मितात्मवादे।
षड्जीवकाय त्वमनन्तसख्य-
माख्यस्तथा नाथ ! यथा न दोषः ॥२९॥

जो मनुष्य जीवो को अनन्त न मान कर परिमित सख्या मे मानते हैं उनके मतानुसार मुक्त जीवो को पुन ससार मे जन्म धारण करना चाहिये अथवा यह ससार एक दिन जीव-विहीन हो जाना चाहिये, परन्तु हे भगवन् ! आपने छ काय के जीवो को उस प्रकार अनन्त सख्या युक्त प्ररूपित किया है जिससे आपके मत मे उपर्युक्त दोष नही आ सकता। (२९)

अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद्,
यथा परे मत्सरिणः प्रवादा।
नयानशेषानविशेषमिच्छन्,
न पक्षपाती समयस्तथा ते ॥३०॥

अन्य वादी जिस प्रकार परस्पर पक्ष एव प्रतिपक्ष भाव रखने से एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या रखते है, उस प्रकार से समस्त नयो को समान मानने वाले आपके शास्त्रो मे किसी का भी पक्षपात नही है। (३०)

वाग्वैभव ते निखिल विवेक्तु-
माशास्महे चेन्महनीयमुख्य ! ।
लङ्घेम जङ्घालतया समुद्र,
वहेम चन्द्रद्युतिपानतृष्णाम् ॥३१॥

हे पूज्य शिरोमणि ! आपकी वाणी के वैभव का पूर्णरूपेण विवेचन करने की आशा रखना हम जैसो के लिए जघा-बल से समुद्र लाघने की आशा करने के समान है अथवा चन्द्रमा की चादनी को पान करने की तृष्णा के समान है। (३१)

(उपसंहारकाव्यम्)

इदं तत्त्वातत्त्वव्यतिकरकरालेऽन्धतमसे,
जगन्मायाकारैरिव हतपरैर्हा विनिहितम् ।
तदुद्धर्तुं शक्तो नियतमविसंवादिवचन-
स्त्वमेवातस्त्रातस्त्वयि कृतसपर्याः कृतधियः ॥३२॥

इन्द्रजालियो की तरह अधम पर-दार्शनिको ने इस जगत को तत्त्व और अतत्त्व के व्यतिकर मिश्रण से विकराल गहन अन्धकार मे डाल दिया है। आप ही इस जगत् का उद्धार करने मे समर्थ हैं, क्योकि आपके वचन विसवाद-रहित है। हे जगत रक्षक ! वुद्धिमान मनुष्य इस कारण आपकी ही सेवा करते हैं। (३२)

कलिकालसर्वज्ञ-श्रीहेमचन्द्राचार्यचरणकजचञ्चरीक–
परमार्हत्-श्रीकुमारपालम् भूपाल रचितम्

❀ साधारणजिनस्तवनम् ❀

नम्राखिलाखण्डलमौलिरत्न–
रश्मिच्छटापल्लविताह्रि पीठ !
विध्वस्तविश्वव्यसनप्रबन्ध !
त्रिलोकबन्धो जयताज्जिनेन्द्र ! ॥१॥

समस्त विनीत इन्द्रो के मुकुटो पर विद्यमान रत्नो की किरणो से कान्तिमय बने पाद-पीठ वाले और जिन्होने जगत् के दु ख समूह को नष्ट किया है ऐसे तीन लोको के वन्धु हे जिनेन्द्र ! आपकी जय हो । (१)

मूढोऽस्म्यह विज्ञपयामि यत्त्वा–
मुपेतरागं भगवन् ! कृतार्थम् ।
न हि प्रभूणामुचितस्वरूप–
निरूपणाय क्षमतेऽर्थिवर्ग ॥२॥

हे भगवन् ! मैं बुद्धिहीन, राग-रहित एव कृतार्थ आपको विज्ञप्ति करता हूँ कि सचमुच स्वामी के उचित स्वरूप का निरूपण करने मे सेवक समर्थ नही होता है। (२)

मुक्ति गतोऽपीश ! विशुद्धचित्ते,
गुणाधिरोपेण ममासि साक्षात् ।
भानुर्दवीयानपि दर्पणेंऽशु–
सङ्गान्न किं द्योतयते गृहान्त· ? ॥३॥

हे स्वामी ! आप मोक्ष मे है फिर भी मेरे निर्मल चित्त मे आपके गुणो का आरोप करने से आप साक्षात् मेरे समक्ष है। अत्यन्त दूरस्थ सूर्य दर्पण मे किरणो के सग से क्या घर के भीतर प्रकाश नही फैलाता ? (३)

तव स्तवेन क्षयमङ्गभाजां,
भजन्ति जन्मार्जितपातकानि ।
कियच्चिरं चण्डरुचेर्मरीचि-
स्तोमे तमांसि स्थितिमुद्वहन्ति ? ॥४॥

आपके स्तवन से प्राणियो के अनेक भवो के सचित पापो का क्षय होता है। सूर्य की किरणो के समक्ष अधकार भला कब तक ठहर सकता है ? (४)

शरण्य ! कारुण्यपरः परेषां,
निहंसि मोहज्वरमाश्रितानाम् ।
मम त्वदाज्ञां वहतोऽपि मूर्ध्ना,
शान्ति न यात्येष कुतोऽपि हेतोः ? ॥५॥

हे शरण ग्रहण करने योग्य प्रभु ! आप दयालु आपके शरणागतो का मोह-ज्वर नष्ट करते हैं, परन्तु आपकी आज्ञा सिरोधार्य करने वाले मेरे इस मोह-ज्वर का, पता नही क्यो शमन नही होता ? (५)

भवाटवीलङ्घनसार्थवाह,
त्वामाश्रितो मुक्तिमह यियासुः ।
कषायचोरैर्जिन ! लुप्यमानं,
रत्नत्रयं मे तदुपेक्षसे किम् ? ॥६॥

मुक्ति-अभिलाषा मे भव-वन को पार करने मे सार्थवाह तुल्य आपके आश्रय मे हूँ, तो भी हे जिनेश्वर ! कषाय रूपी चोरो के द्वारा चुराये जाते मेरे अमूल्य त्रिरत्नो की आप उपेक्षा क्यो करते है ? (६)

लब्धोऽसि स त्वं मयका महात्मा,
भवाम्बुधौ बम्भ्रमता कथञ्चित् ।
आः पापपिण्डेन नतो न भक्त्या,
न पूजितो नाथ ! न तु स्तुतोऽसि ॥७॥

भव-सागर मे भटकते हुए मुझे किसी प्रकार से अत्यन्त ही कठिनाई से आप महात्मा मिल पाये है, परन्तु मुझे खेद तो इस बात का है कि मुझ पाप-पिण्ड ने भक्ति पूर्वक हे नाथ ! न तो आपको नमन किया, न आपकी पूजा-अर्चना की और न स्तुति की। (७)

संसारचक्रे भ्रमयन् कुबोध-
दण्डेन मा कर्ममहाकुलाल ।
करोति दुःखप्रचयस्थ भाण्ड,
तत प्रभो ! रक्ष जगच्छरण्य ! ।।८।।

इस ससार चक्र मे कर्म रूपी महान् कुम्भकार कुबोध रूपी डण्डे से घुमाता हुआ मुझे दु ख के समूह का भाजन बनाता है। अत हे प्रभु ! हे जगत् के शरणभूत ! आप मेरी रक्षा करे। (८)

कदा त्वदाज्ञाकरणाप्ततत्त्व-
स्त्यक्त्वा ममत्वादि भवैककन्दम् ।
आत्मैकसारो निरपेक्षवृत्ति-
र्मोक्षेऽप्यनिच्छो भवितास्मि नाथ ! ।।९।।

हे नाथ ! आपकी आज्ञा का पालन करने से मुझे तत्त्व प्राप्त होने के कारण मैं इस ससार का मूल कारण स्वरूप ममता आदि का त्याग करके, आत्मा को ही तत्त्व मान कर ससार मे निरपेक्ष व्यवहार युक्त तथा मोक्ष की भी इच्छा से रहित कब बनू गा ? (९)

तव त्रियामापतिकान्तिकान्तै-
र्गुणैर्नियम्यात्ममन प्लवङ्गम् ।
कदा त्वदाज्ञाऽमृतपानलोल,
स्वामिन् ! परब्रह्मरतिं करिष्ये ? ।।१०।।

हे स्वामी ! आपके चन्द्रमा की चाँदनी (कान्ति) के समान मनोहर गुण रूपी डोरी के द्वारा मेरे मन रूपी बन्दर को बाँध कर आपकी आज्ञा रूपी अमृत के पान में लीन बना मैं कब आत्म-स्वरूप मे आनन्द-मग्न होऊँगा ? (१०)

एतावतीं भूमिमह त्वदङ्घ्रि-
पद्मप्रसादाद् गतवानधीशम् ।
हठेन पापास्तदपि स्मराद्या,
ही मामकार्येषु नियोजयन्ति ।।११।।

हे स्वामी ! आपके चरण-कमलो की कृपा से मैंने इतना उच्च स्थान प्राप्त किया है, फिर भी खेद की बात यह है कि बलात्कार पूर्वक काम-

विकार आदि पाप कर्म मुझे अकरणीय प्रवृत्तियो में अत्यन्त लगा देते हैं। (११)

भद्र न किं त्वय्यपि नाथनाथे,
सम्भाव्यते मे यदपि स्मराद्याः ।
अपाक्रियन्ते शुभभावनाभिः,
पृष्ठं न मुञ्चन्ति तथापि पापाः ।।१२।।

आपके तुल्य स्वामी के होने से मेरे लिए समस्त कल्याण सभव हैं। यद्यपि शुभ भावनाओ के द्वारा काम-विकार आदि शत्रु दूर हटाये जाते है, फिर भी वे पापी मेरा आँचल नही छोडते। (१२)

भवाम्बुराशौ भ्रमतः कदापि,
मन्ये न मे लोचनगोचरोऽभूः ।
निस्सीमसीमन्तकनारकादि-
दुःखातिथित्वं कथमन्यथेश ! ।।१३।।

हे ईश ! मैं यह मानता हूँ कि भव-सागर मे परिभ्रमण करते मुझे आपके दर्शन कदापि नही हुए, अन्यथा असीम दु खो की खान स्वरूप सीमतक नारकीय दुःखो आदि का भोक्ता मैं कैसे होता ? (१३)

चक्रासिचापाङ्कुशवज्रमुख्यैः,
सल्लक्षणैर्लक्षितमङ्घ्रियुग्मम् ।
नाथ ! त्वदीयं शरणं गतोऽस्मि,
दुर्वारमोहादिविपक्षभीतः ।।१४।।

हे नाथ ! दु ख से निवारण किए जा सके ऐसे मोह आदि शत्रुओ से भयभीत बना मैं चक्र, तलवार, धनुष, वज्र आदि प्रमुख शुभ लक्षणो से अलकृत आपके चरण-युगलो की शरण मे आया हुआ हूँ। (१४)

अगण्यकारुण्य ! शरण्य ! पुण्य !
सर्वज्ञ ! निष्कण्टक ! विश्वनाथ !
दीनं हताशं शरणागतं च,
मां रक्ष रक्ष स्मरभिल्लभल्लैः ।।१५।।

हे अगणित करुणानिधान ! हे शरण लेने योग्य ! हे पवित्र ! हे सर्वज्ञ ! हे निष्कण्टक ! हे जगन्नाथ ! मुझ दीन, हताश, एव शरणागत की काम-देव रूपी भील के भालो से रक्षा करो, रक्षा करो। (१५)

त्वया विना दुष्कृतचक्रवालं,
नान्यः क्षय नेतुमल ममेश !
को वा विपक्षप्रतिचक्रमूल,
चक्र विना छेत्तुमल भविष्णु ? ॥१६॥

हे स्वामी ! आपके अतिरिक्त मेरे पाप-समूह को क्षय करने मे अन्य कौन समर्थ है ? अथवा शत्रु-सेना का मूलोच्छेदन करने के लिए चक्र के अतिरिक्त कौन समर्थ हो सकता है ? (१६)

यद् देवदेवोऽसि महेश्वरोऽसि,
बुद्धोऽसि विश्वत्रयनायकोऽसि ।
तेनान्तरङ्गारिगणाभिभूत-
स्तवाग्रतो रोदिमि हा सखेदम् ॥१७॥

जिन कारणो के लिए आप देवाधिदेव हैं, महेश्वर है, बुद्ध हैं, तीनो लोको के नायक हैं और मैं अन्तरग शत्रुओ से पराजित हो चुका हूँ, इस कारण आपके समक्ष मैं खेद सहित रुदन करता हूँ। (१७)

स्वामिन्नधर्मव्यसनानि हित्वा,
मनः समाधौ निदधामि यावत् ।
तावत्क्रुधेवान्तरवैरिणो मा-
मनल्पमोहान्ध्यवश नयन्ति ॥१८॥

हे स्वामी ! जब तक अधर्मों एव व्यसनो का परित्याग करके मैं अपने मन को समाधि मे स्थापित करता हूँ उतने मे तो क्रोध से ही मानो मेरे अन्तरग शत्रु मुझे मोहान्ध कर देते है। (१८)

त्वदागमाद्विद्धि सदैव देव !
मोहादयो यन्मम वैरिणोऽमी ।
तथापि मूढस्य पराप्तबुद्ध्या,
तत्सन्निधौ ही न किमप्यकृत्यम् ॥१६॥

हे देव ! आपके आगमो के द्वारा मैं सदा मोह आदि को अपना शत्रु समझता हूँ, परन्तु मुझ मूर्ख को शत्रु मे उत्कृष्ट विश्वास हुआ है, जिससे मोह आदि के समीप रह कर मुझ से कौनसा कुकृत्य नही होगा ? अर्थात् मोह आदि के कारण पुद्गल मे विश्वास अथवा पुद्गल मे अपनत्व की

भावना से मूढ बने मेरे लिए कोई भी कार्य अकरणीय नही रहा, यह खेद की बात है। (१६)

म्लेच्छैर्नृशसैरतिराक्षसैश्च,
विडम्बितोऽमीभिरनेकशोऽहम् ।
प्राप्तस्त्विदानीं भुवनैकवीर !
त्रायस्व मा यत्तव पादलीनम् ॥२०॥

म्लेच्छ, निर्दयी तथा राक्षसो को भी मात करने वाले इन काम-क्रोध आदि के द्वारा मैं अनेक बार दु ख प्राप्त कर चुका हूँ। हे लोक मे वीर परमात्मा ! अब मैंने आपको प्राप्त किया है। मैं आपके चरणो मे लीन हूँ। आप मेरी रक्षा करे। (२०)

हित्वा स्वदेहेऽपि ममत्वबुद्धि,
श्रद्धापवित्रीकृतसद्विवेकः ।
मुक्तान्यसङ्गः समशत्रुमित्रः,
स्वामिन् ! कदा सयममातनिष्ये ॥२१॥

हे स्वामी ! अपने देह के प्रति भी ममत्व का त्याग करके, श्रद्धा सहित पवित्र अन्तःकरण युक्त होकर, हृदय मे शुद्ध विवेक–हेय आदि का विभाग करके, अन्य सभी की सगति का परित्याग करके तथा शत्रु एव मित्र को समान समझ कर मैं कब सयम ग्रहण कर सकूँगा ? (२१)

त्वमेव देवो मम वीतराग !
धर्मो भवद्दर्शितधर्म एव ।
इति स्वरूपं परिभाव्य तस्मान्,
नोपेक्षणीयो भवति स्वभृत्यः ॥२२॥

हे वीतराग ! आप ही मेरे देव है और आप द्वारा प्ररूपित धर्म ही मेरा धर्म है। इस प्रकार मेरे स्वरूप का विचार करके आपको मुझ सेवक की ऐसी उपेक्षा करना उचित नही है। (२२)

जिता जिताशेषसुरासुराद्याः,
कामादयः काममभी त्वयेश !
त्वां प्रत्यशक्तास्तव सेवकं तु,
निघ्नन्ति ही मां परुषं रुषैव ॥२३॥

हे ईश ! ये काम आदि, समस्त देव-दानवो के विजेता हैं। इन्हे आपने सर्वथा जीत लिया है, परन्तु आपको जीतने मे असमर्थ वे काम आदि मानो क्रोध से ही मुझ सेवक का निर्दयता से सहार करते हैं, यह खेद की बात है। (२३)

सामर्थ्यमेतद् भवतोऽस्ति सिद्धि,
सत्त्वानशेषानपि नेतुमीश !
क्रियाविहीन भवदह्रिलीन
दीन न किं रक्षसि मा शरण्य ॥२४॥

हे ईश ! समस्त प्राणियो को मुक्ति मे ले जाने का आपका सामर्थ्य है, तो फिर मुझ क्रियाविहीन, दीन एव आपके चरणो मे लीन को आप क्यो नही बचाते ? (२४)

त्वत्पादपद्मद्वितय जिनेन्द्र !
स्फुरत्यजस्र हृदि यस्य पु स ।
विश्वजयी श्रीरपि नूनमेति,
तत्राश्रयार्थं सहचारिणीव ॥२५॥

हे जिनेन्द्र ! जिस पुरुष के अन्त करण मे आपके चरण-कमल-युगल सदा स्फुरायमान हैं, वहाँ निश्चय ही तीनो लोको की लक्ष्मी सहचारिणी की तरह आश्रय ग्रहण करने के लिए आती है। (२५)

अह प्रभो ! निर्गु णचक्रवर्ती,
क्रूरो दुरात्मा हतकः सपाप्मा ।
हो दु:खराशौ भववारिराशौ,
यस्मान्निमग्नोऽस्मि भवद्विमुक्तः ॥२६॥

हे प्रभो ! मैं निर्गु णियो मे चक्रवर्ती हूँ, क्रूर हूँ, दुरात्मा हूँ, हिंसक हूँ और पापी हूँ, जिस कारण से मैं आपसे अलग होकर दु ख की खान तुल्य भव-सागर मे डूब गया हूँ, यह खेद की बात है। (२६)

स्वामिन्निमग्नोऽस्मि सुधासमुद्रे,
यन्नेत्रपात्रातिथिरद्य मेऽभू ।
चिन्तामणौ स्फूर्जति पाणिपद्मे,
पु सामसाध्यो न हि कश्चिदर्थ ॥२७॥

न्यायाचार्य-न्यायविशारद-महोपाध्याय
श्रीयशोविजय-रचिता

❀ परमज्योतिः पञ्चविंशतिका ❀

ऐन्द्र तत्परम ज्योतिरुपाधिरहित स्तुम ।
उदिते स्युर्यदशेऽपि, सन्निधौ निधयो नव ॥१॥

कर्म-उपाधि-रहित आत्मा के सम्बन्ध में हम उस परम ज्योति की स्तुति करते हैं जिसके अश मात्र के उदय से नौ निधियाँ प्रकट होती है। (१)

प्रभा चन्द्राऽकभादीना, मितक्षेत्रप्रकाशिका ।
आत्मानस्तु पर ज्योति –र्लोकालोकप्रकाशम् ॥२॥

चाद, सूर्य एव नक्षत्रो आदि की प्रभा सीमित क्षेत्र को प्रकाशित करने वाली है, जबकि आत्मा की परम ज्योति लोक-अलोक को प्रकाशित करने वाली है। (२)

निरालम्बं निराकारं, निर्विकल्प निरामयम् ।
आत्मनः परम ज्योति, –निरुपाधि-निरंजनम् ॥३॥

आत्मा की परम ज्योति आलम्बन रहित, आकार रहित, विकल्प रहित, रोग रहित, उपाधि रहित एव मल रहित है। (३)

दीपादिपुद्गलापेक्ष, समल ज्योतिरक्षजम् ।
निर्मल केवलं ज्योति –र्निरपेक्षमतीन्द्रियम् ॥४॥

इन्द्रियो से उत्पन्न ज्योति दीपक आदि पुद्गलो की अपेक्षा रखने वाली और मल युक्त है। अतीन्द्रिय केवल ज्योति निरपेक्ष एव निर्मल है। (४)

कर्मनोकर्मभावेषु, जागरूकेष्वपि प्रभुः ।
तमसानावृतः साक्षी, स्फुरति ज्योतिषा स्वयम् ।।५।।

जागरूक कर्म तथा नोकर्म जनित भावो के सम्बन्ध मे अज्ञान-अधकार से अनावृत्त स्वय साक्षी स्वरूप प्रभु आत्म-ज्योति के द्वारा स्फुरायमान होता है। (५)

परमज्योतिषः स्पर्शादपरं ज्योतिरेधते ।
यथा सूर्यकरस्पर्शात्, सूर्यकान्तस्थितोऽनलः ।।६।।

सूर्य की किरणो के स्पर्श से सूर्यकान्तमणि मे निहित अग्नि की जिस प्रकार वृद्धि होती है, उसी प्रकार से परम ज्योति के स्पर्श से अपरम ज्योति की वृद्धि होती है। (६)

पश्यन्नपरम ज्योतिर्विवेकाद्रेः पतत्यध· ।
परम ज्योतिरन्विच्छन्नाऽविवेके निमज्जति ।।७।।

अपरम ज्योति का दर्शक विवेक रूपी पर्वत से नीचे गिरता है, परम ज्योति का अभिलाषी अविवेक मे नही डूबता। (७)

तस्मै विश्वप्रकाशाय, परमज्योतिषे नमः ।
केवलं नैव तमसः, प्रकाशादपि यत्परम् ।।८।।

विश्व का प्रकाश करने वाली उस परम ज्योति को नमस्कार है कि जो केवल अधकार से ही परे नही है, किन्तु प्रकाश से भी परे है। (८)

ज्ञानदर्शनसम्यक्त्व –चारित्रसुखवीर्यभू· ।
परमात्मप्रकाशो मे, सर्वोत्तमकलामयः ।।९।।

ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, सुख और वीर्य की भूमि तुल्य मेरा परमात्म प्रकाश सर्वोत्तम कलामय है। (९)

या विना निष्फलाः सर्वा·, कला गुणबलाधिका ।
आत्मधामकलामेका, ता वयं समुपास्महे ।।१०।।

गुण एव बल से अधिक समस्त कलाये जिसके बिना निष्फल हैं, उस आत्म-ज्योति स्वरूप एक ही कला की हम उपासना करते है। (१०)

निधिभिर्नवभीरत्नै -श्चतुर्दशभिरप्यहो ।
न तेजश्चक्रिणां यत्स्यात्, तदात्माधीनमेवहि[1] ॥११॥

अहो ! नौ निधियाँ एव चौदह रत्नो से भी चक्रवर्त्तियो को जिस तेज की प्राप्ति नही होती, वह तेज परम ज्योति के प्रकाश को प्राप्त हमारी आत्मा के अधीन है । (११)

दम्भपर्वतदम्भोलि, ज्ञानध्यानधनाः सदा ।
मुनयो वासवेभ्योऽपि, विशिष्ट धाम बिभ्रति ॥१२॥

दम्भ रूपी पर्वत को तोडने के लिये वज्र तुल्य, ज्ञान तथा ध्यान रूपी धन वाले मुनि इन्द्रो से भी अधिक तेज को धारण करते है । (१२)

श्रामण्ये वर्षपर्यायात्, प्राप्ते परमशुक्लताम् ।
सर्वार्थसिद्धदेवेभ्योऽप्यधिकं ज्योतिरुल्लसेत् ॥१३॥

एक वर्ष के श्रमण पर्याय के द्वारा परम शुक्लता को प्राप्त मुनिवरो को सर्वार्थसिद्ध विमान के देवो से भी अधिक ज्योति उल्लसित होती है । (१३)

विस्तारिपरमज्योति, -र्द्योतिताभ्यन्तराशयाः ।
जीवन्मुक्ता महात्मानो, जायन्ते विगतस्पृहाः ॥१४॥

विस्तार युक्त परम ज्योति से प्रकाशित अन्तरात्मा वाले जीवन-मुक्त महात्मा समस्त प्रकार की स्पृहा से रहित होते है । (१४)

जाग्रत्यात्मनि ते नित्य, बहिर्भाविषु शेरते ।
उदासते परद्रव्ये, लीयन्ते स्वगुणामृते ॥१५॥

वे आत्म-भाव के विषय मे सदा जाग्रत रहते है, बाह्य भावो में निरन्तर सोये हुए रहते है, पर द्रव्यो के विषय मे उदासीन रहते है और स्वगुण रूपी अमृत-पान के विषय मे तल्लीन रहते है । (१५)

यथैवाभ्युदितः सूर्यः, पिदधाति महान्तरम् ।
चारित्रापरमज्योति, -र्द्योतितात्मा तथा मुनिः ॥१६॥

उदित भानु जिस प्रकार घोर अधकार का नाश करता है, उसी

---

१ न

प्रकार से चारित्र रूपी परम ज्योति से प्रकाशित आत्मा वाले मुनिगण अज्ञानान्धकार को नष्ट कर डालते हैं। (१६)

प्रच्छन्न परम ज्योति - रात्मनोऽज्ञानभस्मना।
क्षणादाविर्भवत्युग्र - ध्यानवातप्रचारत: ॥१७॥

आत्मा की परम ज्योति अज्ञान रूपी भस्म से आच्छादित है। उग्र ध्यान रूपी वायु के प्रचार से क्षण भर मे उसका आविर्भाव होता है। (१७)

परकीय प्रवृत्तौ ये, मूकान्धबधिरोपमाः।
स्वगुणार्जन[1]-सज्जास्तै, परम ज्योतिराप्यते ॥१८॥

जो परकीय प्रवृत्ति मे मूक, अन्ध और बधिर की उपमा से युक्त हैं तथा स्वगुण के उपार्जन मे सज्ज हैं, वे परम ज्योति को प्राप्त करते हैं। (१८)

परेषा गुणदोषेषु, दृष्टिस्ते विषदायिनी।
स्वगुणानुभवालोकाद्, दृष्टि: पीयूषवर्षिणी ॥१९॥

दूसरो के गुण दोषो पर रही हुई तेरी दृष्टि विष की वृष्टि करने वाली है। स्वगुण का अनुभव करने के प्रकाश युक्त दृष्टि अमृत की वृष्टि करने वाली है। (१९)

स्वरूपादर्शन[2] श्लाघ्य, पररूपेक्षण वृथा।
एतावदेव विज्ञानं, परज्योतिः प्रकाशकम् ॥२०॥

स्वरूप का दर्शन श्लाघनीय है, पर रूप का ईक्षण वृथा है, इतना ही विज्ञान परम ज्योति का प्रकाशक है। (२०)

स्तोकमप्यात्मनो ज्योति, पश्यतो दीपवद्धितम्।
अन्धस्य दीपशतवत्, परज्योतिर्न बह्वपि ॥२१॥

तनिक आत्म-ज्योति भी दृष्टि युक्त को दीपक की तरह हितकर है। अन्धे के लिये एक सौ दीपको की तरह अधिक ज्योति भी दूसरो के लिये हितकार नही है। (२१)

---

१ सज्जाश्च ते पर। २ स्वरूपादशन।

समताऽमृतमग्नानां, समाधिधूतपाप्मना ।
रत्नत्रयमयं शुद्धं, पर ज्योतिः प्रकाशते ।।२२।।

समता रूपी अमृत मे निमग्न एव समाधिपूर्वक पाप-कर्मों के नाशक महात्माओ को रत्नत्रयमय शुद्ध परम ज्योति प्रकाशमय करती है। (२२)

तीर्थंकरा गणधरा, लब्धिसिद्धाश्च साधवः ।
संजातास्त्रिजगद्वन्द्याः, परं ज्योतिष्प्रकाशतः ।।२३।।

तीर्थंकर, गणधर एव लब्धि-सिद्ध साधु पुरुष परम ज्योति के प्रकाश से त्रिलोक-वदनीय हुए है। (२३)

न रागं नापि च द्वेष, विषयेषु यदा व्रजेत् ।
औदासीन्यनिमग्नात्मा, तदाप्नोति परं महः ।।२४।।

उदासीन भाव मे निमग्न आत्माये जव विषयो मे राग अथवा द्वेष नही करती, तब वे परम ज्योति को प्राप्त करती है। (२४)

विज्ञाय परमज्योति - र्माहात्म्यमिदमुत्तमम् ।
यः स्थैर्यं याति लभते, स यशोविजयश्रियम् ।।२५।।

परम ज्योति का यह उत्तम माहात्म्य समझ कर जो स्थिरता प्राप्त करते है, वे यश एव विजय की लक्ष्मी प्राप्त करते है, अथवा श्रीयशोविजय की लक्ष्मी को प्राप्त करते है। (२५)

—o—

न्यायाचार्य–न्यायविशारद–महोपाध्याय

श्रीयशोविजय रचिता

※ परमात्म-पञ्चविंशतिका ※

परमात्मा परम्ज्योतिः, परमेष्ठी निरञ्जनः ।
अजः सनातन· शुभ·, स्वयम्भूर्जयताज्जिनः ॥१॥

परमात्मा, परज्योति, परमेष्ठी, निरजन, अज, सनातन, शभु एव स्वयभू श्री जिनेश्वर प्रभु की जय हो। (१)

नित्य विज्ञानमानन्दं, ब्रह्म यत्र प्रतिष्ठितम् ।
शुद्धबुद्धस्वभावाय, नमस्तस्मै परात्मने ॥२॥

जहाँ निरन्तर विज्ञान, आनन्द और ब्रह्म प्रतिष्ठित है, उन शुद्ध बुद्ध स्वभावी परमात्मा को नमस्कार हो। (२)

अविद्याजनितैः सर्वै -र्विकारैरनुपद्रुतः ।
व्यक्त्या शिवपदस्थोऽसौ, शक्त्या जयति सर्वगः ॥३॥

जो अज्ञान-जनित समस्त प्रकार के विकारो से अनुपद्रुत हैं, व्यक्ति के द्वारा शिव-पद मे विद्यमान हैं और शक्ति के द्वारा सर्वत्र व्यापक हैं। (३)

यतो वाचो निवर्तन्ते, न यत्र मनसो गतिः ।
शुद्धानुभवसवेद्य, तद्रूप परमात्मनः ॥४॥

जहाँ से वाणी लौट आती है और जहाँ से मन की गति नही होती; केवल शुद्ध अनुभव से ही ज्ञात हो सकने वाला परमात्मा का स्वरूप है। (४)

न स्पर्शो यस्य नो वर्णो, न गन्धो न रसश्रुतिः ।
शुद्धचिन्मात्रगुणवान्, परमात्मा स गीयते ॥५॥

जिनके स्पर्श नही है, वर्ण नही है, गध नही है, रस नही है तथा शब्द नही है और जो केवल शुद्ध ज्ञान-गुण के धारक हैं वे परमात्मा कहलाते हैं। (५)

माधुर्यातिशयो यद्वा, गुणौघः परमात्मन ।
तथाऽऽख्यातुं न शक्योऽपि, प्रत्याख्यातुं न शक्यते ।।६।।

अथवा अतिशय मधुरता के धारक परमात्मा का समुदाय अमुक प्रकार का है, यह भी नही कहा जा सकता और अमुक प्रकार का नही है, यह भी नही कहा जा सकता। (६)

बुद्धो जिनो हृषीकेशः, शम्भुर्ब्रह्मादिपुरुषः ।
इत्यादिनामभेदेऽपि, नाऽर्थतः स विभिद्यते ।।७।।

बुद्ध, जिन, हृषिकेश, शभु, ब्रह्मा आदिपुरुष इत्यादि नामो से अनेक भेद युक्त होने पर भी अर्थ से तनिक भी भेद नही है। (७)

धावन्तोऽपि नया नैके, तत्स्वरूपं स्पृशन्ति न ।
समुद्रा[1] इव कल्लोलैः, कृतप्रतिनिवृत्तयः ।।८।।

दौडते हुए अनेक नय परमात्मा के स्वरूप का स्पर्श नही कर सकते। जिस प्रकार समुद्र की तरगे समुद्र मे लौट आती है उसी प्रकार से नय भी (परमात्म स्वरूप का स्पर्श किये बिना) पुनः लौट आते है। (८)

शब्दोपरक्ततद्रूप, –बोधकृन्नयपद्धतिः (ते) ।
निर्विकल्पं तु तद्रूप, गम्य नाऽनुभव विना ।।९।।

नय का मार्ग शब्दो के द्वारा उपरक्त बन कर परमात्म-स्वरूप का बोध कराता है, परन्तु परमात्मा का निर्विकल्प स्वरूप अनुभव के बिना केवल शब्दो से जाना नही जा सकता। (९)

केषा न कल्पना दर्वी, शास्त्रक्षीरान्नगाहिनी ।
स्तोकास्तत्त्वरसा स्वाद - विदोऽनुभवजिह्वया ।।१०।।

शास्त्ररूपी क्षीरान्न का अवगाहन करने वाली कल्पना रूपी कडछी भला किसे प्राप्त नही हुई है ? अनुभव रूपी जीभ (रसना) के द्वारा उसका रसास्वादन करने वाले जगत् मे विरले ही है। (१०)

जितेन्द्रिया जितक्रोधा, दान्तात्मान शुभाशया ।
परमात्मगति यान्ति, विभिन्नैरपि वर्त्मभि ।।११।।

जितेन्द्रिय, क्रोध-विजेता, आत्मा का दमन करने वाले और शुभ आशय वाले महापुरुष भिन्न-भिन्न मार्गों के द्वारा भी परमात्म स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करते हैं। (११)

---

१. सामुद्रा इव कल्लोला ।

नूनं मुमुक्षव. सर्वे , परमेश्वरसेवका॰ ।
दुरासन्नादिभेदस्तु, तद्भृत्यत्व निहन्ति न ।।१२।।

समस्त मुमुक्षु आत्माये निश्चित रूप से परमेश्वर के सेवक ही हैं। दूर, समीप आदि का भेद उनके सेवकत्व मे तनिक भी बाधक नही होता। (१२)

नाममात्रेण ये दृप्ता, ज्ञानमार्गविर्वाजिताः ।
न पश्यन्ति परात्मान[1], ते घूका इव भास्करम् ।।१३।।

ज्ञान-मार्ग से रहित एव परमात्मा के नाम मात्र से अभिमानी बने पुरुष, जिस प्रकार उलूक (उल्लू) सूर्य को नही देख सकता उसी प्रकार, परमात्मा को देख नहीं सकते। (१३)

श्रमः शास्त्राश्रयः सर्वो, यज्ज्ञानेन फलेग्रहिः ।
ध्यातव्योऽयमुपास्योऽय, परमात्मा निरञ्जनः ।।१४।।

शास्त्र-सम्बन्धी समस्त परिश्रम, जिनका ज्ञान होने के पश्चात् ही सफल होता है, वे एक निरजन परमात्मा ही ध्यान करने योग्य एव उपासना करने योग्य है। (१४)

नान्तराया न मिथ्यात्व, हासो रत्यरती च न ।
न भीर्यस्य जुगुप्सा नो, परमात्मा स मे गति॰ ।।१५।।

जिनके अन्तराय नही है, मिथ्यात्व नही है, हास्य नही है, रति नही है, अरति नही है, भय नही है और जुगुप्सा नही है वे परमात्मा मुझे शरण-गति देने वाले बने। (१५)

न शोको यस्य नो कामो, ना ज्ञानाविरती तथा ।
नावकाशश्च निद्रायाः , परमात्मा स मे गति ।।१६।।

जिन्हे शोक नही है, काम नही है, अज्ञान नही है, अविरति नही है तथा नीद का अवकाश नही हैं वे परमात्मा मेरे शरण-भूत हो। (१६)

रागद्वेषौ हतौ येन, जगत्त्रय भयंकरौ ।
स त्राण परमात्मा मे, स्वप्ने वा जागरेऽपि वा ।।१७।।

तीनो लोको के लिये भयकर राग एव द्वेष को जिन्होने नष्ट कर दिया है वे परमात्मा स्वप्न मे अथवा जागृत अवस्था मे मेरे रक्षक बनें। (१७)

---

१ परेशान।

उपाधिजनिता भावा, ये ये जन्मजरादिकाः ।
तेषां तेषां निषेधेन, सिद्धं रूपं परात्मनः ॥१८॥

कर्म रूपी उपाधि से उत्पन्न होने वाले जो-जो जन्म, जरा आदि भाव है उन-उन भावो का निषेध होने पर परमात्मा का स्वरूप सिद्ध होता है। (१८)

अतद्व्यावृत्तितो भिन्नं, सिद्धान्ताः कथयन्ति तम् ।
वस्तुतस्तु न निर्वाच्यं, तत्स्वरूप[1] कथञ्चन ॥१९॥

"वह इस प्रकार का नही है"–यह कह कर सिद्धान्त उसके रूप का वर्णन करते है, परन्तु वस्तुत परमात्मा के स्वरूप का किसी भी प्रकार से वर्णन नही किया जा सकता। (१९)

जानन्नपि यथा म्लेच्छो, न शक्नोति पुरीगुणान् ।
प्रवक्तुमुपमाऽभावात्, तथा सिद्धसुखं जिनः ॥२०॥

गाव का निवासी नगर के गुणो को जानते हुए भी उपमाओ के अभाव मे उनके विषय मे कुछ कह नही सकता, इसी प्रकार केवलज्ञानी महात्मा भी उपमाओ के अभाव मे सिद्ध परमात्मा के सुख का वर्णन नही कर सकते। (२०)

सुरासुराणां सर्वेषां, यत्सुखं पिण्डितं भवेत् ।
एकत्राऽपि हि सिद्धस्य, तदनन्ततमांशगम् ॥२१॥

समस्त सुरासुरो के सुख को यदि एक स्थान पर एकत्रित कर लिया जाये तो भी वह एक सिद्ध के सुख के अनन्तवे भाग जितना भी नही होता। (२१)

अदेहा दर्शनज्ञानो –पयोगमयमूर्त्तय ।
आकालं परमात्मान , सिद्धा सन्ति निरामया ॥२२॥

सिद्ध परमात्मा देहरहित, दर्शन एव ज्ञानोपयोग स्वरूप से युक्त तथा सर्वदा रोग एव पीडारहित होते है। (२२)

लोकाग्रशिखरारूढ़ाः , स्वभावसमवस्थिता ।
भवप्रपञ्चनिर्मुक्ताः , युक्तानन्ताऽवगाहना ॥२३॥

---

१. तस्य रूप ।

वे लोक के अग्र भाग रूपी शिखर पर आरुढ होते है, वे सदा अपने स्वभाव मे अवस्थित होते हैं, ससार के प्रपचो से सर्वथा मुक्त होते है और अनन्त सिद्धो की अवगाहना मे रहे हुए होते हैं। (२३)

ईलिका भ्रमरीध्यानाद्, भ्रमरीत्व यथाऽश्नुते ।
तथा ध्यायन् परात्मान, परमात्मत्वमाप्नुयात् ॥२४॥

भ्रमरी के ध्यान से जिस प्रकार ईलिका भ्रमरी बन जाती है, उसी प्रकार से परमात्मा का ध्यान करने वाली आत्मा परमात्मत्व प्राप्त करती है। (२४)

परमात्मगुणानेव[1], ये ध्यायन्ति समाहिता. ।
लभन्ते निभृतानन्दा –स्ते यशोविजयश्रियम् ॥२५॥

इस प्रकार समाधियुक्त मनवाले पुरुष जो परमात्मा के गुणो का ध्यान करते है, वे परिपूर्ण आनन्दमय बन कर यश का विजय करने वाली लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं, अथवा श्री यशोविजय की लक्ष्मी को प्राप्त करते है। (२५)

---

१ गुणानेन।

कलिकालसर्वज्ञ–श्रीमद्–हेमचन्द्राचार्य–विरचित

* वीतराग-स्तोत्रम् *

प्रथम प्रकाश

यः परात्मा परंज्योति , परमः परमेष्ठिनाम् ।
आदित्यवर्णं तमस , परस्तादामनन्ति यम् ॥१॥

जो परात्मा, परज्योति एव परमेष्ठियो मे प्रधान है, जिन्हे पण्डितगण अज्ञान से पार पाये हुए एव सूर्य के समान उद्योत करने वाले मानते है। (१)

सर्वे येनोदमूल्यन्त, समूलाः क्लेशपादपा ।
मूर्ध्ना यस्मै नमस्यन्ति, सुरासुरनरेश्वराः ॥२॥

जिन्होने राग आदि क्लेश-वृक्षो का समूल उन्मूलन कर दिया है, जिनके (चरणो मे) सुर, असुर, मनुष्य एव उनके अधिपति नत मस्तक होते है। (२)

प्रावर्त्तन्त यतो विद्याः, पुरुषार्थप्रसाधिका ।
यस्य ज्ञान भवद्भावि - भूतभावावभासकृत् ॥३॥

जिनसे पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाली शब्द आदि विद्याएँ प्रवर्तित है, जिनका ज्ञान वर्तमान, भावि और भूत भावो का प्रकाशक है। (३)

यस्मिन्विज्ञानमानन्द, ब्रह्म चैकात्मतां गतम् ।
स श्रद्धेयः स च ध्येय , प्रपद्ये शरणं च तम् ॥४॥

जिनमे विज्ञान-केवलज्ञान, आनन्द-सुख और ब्रह्म-परमपद ये तीनो एकात्म-एकरूप हो गये है, वे श्रद्धेय है तथा ध्येय है और मैं उनकी शरण अङ्गीकार करता हू। (४)

तेन स्यां नाथवास्तस्मै, स्पृहयेय समाहितः।
ततः कृतार्थो भूयास, भवेय तस्य किङ्करः ॥५॥

उनके कारण मैं सनाथ हू, समाहित मन वाला मैं उनकी इच्छा करता हू, मैं उनसे कृतार्थ होता हू, और मैं उनका सेवक हू। (५)

तत्र स्तोत्रेण कुर्यां च, पवित्रा स्वा सरस्वतीम्।
इद हि भवकान्तारे, जन्मिना जन्मन फलम् ॥६॥

उनकी स्तुति करके मैं अपनी वाणी पवित्र करता हू क्योकि इस भव-वन मे प्राणियो के जन्म का यही एक फल है। (६)

क्वाह पशोरपि पशु -र्वीतरागस्तवः क्व च।
उत्तितीर्षुररण्यानीं, पद्भ्या पङ्गुरिवास्म्यतः ॥७॥

पशु से भी गया बीता मैं कहाँ और सुरगुरु (बृहस्पति) से भी असभव वीतराग की स्तुति कहाँ ? इस कारण दो पाँवो से बडे भारी वन को लाघने के अभिलाषी पगु के समान मैं हू। (७)

तथापि श्रद्धामुग्धोऽहु, नोपालभ्य स्खलन्नपि।
विश्रृङ्खलापि वाग्वृत्ति, श्रद्दधानस्य शोभते ॥८॥

तो भी श्रद्धा-मुग्ध मैं प्रभु की स्तुति करने मे स्खलित होने पर भी उपालम्भ का पात्र नही हू। श्रद्धालु व्यक्ति की सम्बन्ध-विहीन वाक्य-रचना भी सुशोभित होती है। (८)

श्रीहेमचन्द्रप्रभवाद्, -वीतरागस्तवादित।
कुमारपालभूपाल प्राप्नोतु फलमीप्सितम् ॥९॥

श्री हेमचन्द्रसूरि द्वारा रचित इस श्री वीतरागस्तव से श्री कुमारपाल भूपाल श्रद्धा-विशुद्धि-लक्षण एव कर्मक्षय-लक्षण इच्छित फल प्राप्त करें। (९)

—o—

दूसरा प्रकाश

प्रियङ्गु - स्फटिक स्वर्ण - पद्मरागाञ्जनप्रभ।
प्रभो! तवाधौतशुचि, काय कमिव नाक्षिपेत् ॥१॥

हे प्रभु ! प्रियगु के समान नीले वर्ण की, स्फटिक के समान उज्ज्वल वर्ण की, स्वर्ण के समान पीत वर्ण की, पद्मराग के समान लाल और अञ्जन के समान श्याम कान्ति वाली और धोये बिना ही पवित्र आपकी देह भला किसे आश्चर्य-चकित नही करेगी ? (१)

मन्दार - दामवन्नित्य - मवासित - सुगन्धिनि ।
तवाङ्गे भृङ्गतां यान्ति, नेत्राणि सुरयोषिताम ।।२।।

कल्पवृक्ष के पुष्पो की माला के समान स्वभाव से ही सुगन्धित आपके देह पर देवाङ्गनाओ के नेत्र भौरो की तरह मडराते है । (२)

दिव्यामृतरसास्वाद - पोषप्रतिहता इव ।
समाविशन्ति ते नाथ ! नाङ्गे रोगोरगव्रजाः ।।३।।

हे नाथ ! दिव्य अमृत रस के स्वाद की पुष्टि से पराजित हो गये हो उस प्रकार से कास, श्वास आदि रोग रूपी सापो के समूह आपके देह मे प्रविष्ट नही होते । (३)

त्वय्यादर्शतलालीन - प्रतिमाप्रतिरूपके ।
क्षरत्स्वेदविलीनत्व - कथाऽपि वपुषः कुतः? ।।४।।

दर्पण मे प्रतिबिम्बित प्रतिबिम्ब की तरह स्वच्छ आपके देह मे से निकलते पसीने से व्याप्त हो ऐसी बात भी कहां से हो सकती है ? (४)

न केवल रागमुक्तं, वीतराग ! मनस्तव ।
वपुः स्थित रक्तमपि, क्षीरधारासहोदरम् ।।५।।

हे वीतराग ! केवल आपका मन ही राग-रहित है ऐसी बात नही है, आपके देह का रुधिर भी दूध की धारा के समान उज्ज्वल है, श्वेत है । (५)

जगद्विलक्षण कि वा, तवान्यद्वक्तुमीश्महे ? ।
यदविस्त्रमबीभत्सं, शुभ्र मांसमपि प्रभो ! ।।६।।

अथवा हे प्रभु ! जगत् से विलक्षण आपका हम अन्य कितना वर्णन करने मे समर्थ हो सकते है ? क्योकि आपका मास भी दुर्गन्ध-विहीन-दुर्गञ्छा-विहीन तथा उज्ज्वल है । (६)

जलस्थलसमुद्भूता, संत्यज्य सुमनः स्रजः ।
तव निःश्वाससौरभ्य - मनुयान्ति मधुव्रता ॥७॥

जल-थल मे उत्पन्न पुष्प-मालाओ का त्याग करके भौरे आपके नि श्वास की सौरभ लेने के लिये आपके पीछे आते है । (७)

लोकोत्तरचमत्कार - करी तव भवस्थितिः ।
यतो नाहारनीहारौ, गोचरश्चर्मचक्षुषाम् ॥८॥

आपका ससार मे निवास लोकोत्तर चमत्कार (अपूर्व आश्चर्य) उत्पन्न करने वाला है, क्योकि आपके आहार एव नीहार चर्म-चक्षु वालो के लिये अगोचर हैं, अदृश्य हैं । (८)

—०—

तीसरा प्रकाश

सर्वाभिमुख्यतो नाथ !, तीर्थकृन्नामकर्मजात् ।
सर्वथा सम्मुखीनस्त्वमानन्दयसि यत्प्रजाः ॥१॥

हे नाथ ! तीर्थंकर नामकर्म जनित "सर्वाभिमुख्य" नामक अतिशय से, केवल-ज्ञान के प्रकाश से सर्वथा समस्त दिशाओ मे सम्मुख रहने वाले आप देव, मनुष्य आदि समस्त प्रजा को समस्त प्रकार से आनन्द प्रदान करते है । (१)

यद्योजनप्रमाणेऽपि, धर्मदेशनसद्मनि ।
समान्ति कोटिशस्तिर्यग्नृदेवाः सपरिच्छदाः ॥२॥

धर्मदेशना की एक योजन भूमि मे अपने-अपने परिवार सहित करोडो तिर्यच, मनुष्य एव देवता समाविष्ट हो जाते हैं । (२)

तेषामेव स्वस्वभाषा - परिणाममनोहरम् ।
अप्येकरूप वचन, यत्ते धर्मावबोधकृत् ॥३॥

अपनी-अपनी भाषा मे एक समान ज्ञात हो जाने से आपके मनोहर वचन उन्हे धर्म का बोध कराने वाले है । (३)

साग्रेऽपि योजनशते, पूर्वोत्पन्नाः गदाम्बुदाः ।
यदञ्जसा विलीयन्ते, त्वद्विहारानिलोर्मिभिः ॥४॥

आपके विहार रूपी वायु की लहरो से सवा सौ योजन के क्षत्र मे पूर्वोत्पन्न रोग रूपी बादल तुरन्त विलीन हो जाते है। (४)

नाविर्भवन्ति यद्भूमौ, मूषकाः शलभाः शुकाः ।
क्षणेन क्षितिप्रक्षिप्ता, अनीतय इवेतय ।।५।।

राजाओ द्वारा परित्यक्त अनीतियो की तरह भूमि मे मूषक (चूहे) शलभ (टिड्डी) और पोपट आदि के उपद्रव क्षणभर मे नष्ट हो जाते हैं। (५)

स्त्रीक्षेत्रपद्रादिभवो, यद्वैराग्निः प्रशाम्यति ।
त्वत्कृपापुष्करावर्त्तवर्षादिव भुवस्तले ।।६।।

आपकी कृपा रूपी पुष्करावर्त्त मेघ (बादलो) की वृष्टि से ही मानो आप जहा चरण रखते है वहाँ स्त्री, क्षेत्र एव नगर आदि से उत्पन्न द्वेष रूपी अग्नि का शमन हो जाता है। (६)

तत्प्रभावे भुवि भ्राम्यत्यशिवोच्छेदडिण्डिमे ।
सम्भवन्ति न यन्नाथ !, मारयो भुवनारय ।।७।।

हे नाथ ! अशिव का उच्छेद करने के लिये डिम-डिम नाद के समान आपका प्रभाव भूमि पर होने से लोक-शत्रु तुल्य महामारी, मरकी आदि उपद्रव उत्पन्न नही होते। (७)

कामवर्षिणि लोकानां, त्वयि विश्वैकवत्सले ।
अतिवृष्टिरवृष्टिर्वा, भवेद्यन्नोपतापकृत् ।।८।।

लोक-कामित की वृष्टि करने वाले अद्वितीय विश्ववत्सल आपके विद्यमान होने से परितापकारी अतिवृष्टि अथवा अनावृष्टि नही होती। (८)

स्वराष्ट्र-परराष्ट्रेभ्यो, यत्क्षुद्रोपद्रवा द्रुतम् ।
विद्रवन्ति त्वत्प्रभावात्, सिहनादादिव द्विपाः ।।९।।

जिस प्रकार सिह-नाद से हाथी भाग जाते है उसी प्रकार से स्वराष्ट्र एव पर-राष्ट्र से उत्पन्न क्षुद्र उपद्रव आपके प्रभाव से तुरन्त नष्ट हो जाते है। (९)

यत्क्षीयते च दुर्भिक्ष, क्षितौ विहरति त्वयि ।
सर्वाद्भुतप्रभावाढ्ये, जङ्गमे कल्पपादपे ।।१०।।

समस्त प्रकार के अद्भुत प्रभावशाली जगम कल्पवृक्ष के समान आपके पृथ्वी पर विचरण करने से दुर्भिक्ष समाप्त हो जाता है। (१०)

यन्मूर्ध्न' पश्चिमे भागे, जितमार्त्तण्डमण्डलम् ।
माऽभूद्वपुर्दुरालोकमितीवोत्पिण्डित महः ।।११।।

आपके देह के दर्शन मे रुकावट न हो उसके लिये ही मानो सुर-असुरो ने आपके मस्तक के पीछे एक स्थान पर ही एकत्रित किए हुए आप के देह का ही मानो महातेज न हो ऐसे सूर्य-मण्डल से भी अधिक तेजस्वी तेज का मण्डल–भामण्डल स्थापित किया हुआ है। (११)

स एष योगसाम्राज्य - महिमा विश्वविश्रुत. ।
कर्मक्षयोत्थो भगवन्कस्य नाश्चर्यकारणम् ? ।।१२।।

हे भगवन्! घाती कर्म के क्षय से उत्पन्न विश्व-विख्यात योग साम्राज्य की महिमा भला किसे आश्चर्य-चकित नही करती ? (१२)

अनन्तकालप्रचित - मनन्तमपि सर्वथा ।
त्वत्तो नान्य कर्मकक्षमुन्मूलयति मूलत· ।।१३।।

अनन्त काल से उपार्जित अनन्त कर्म-वन का आपके सिवाय अन्य कोई भी मूलोच्छोदन करने मे समर्थ नही है। (१३)

तथोपाये प्रवृत्तस्त्व, क्रियासमभिहारतः ।
यथानिच्छन्नुपेयस्य, परा श्रियमशिश्रिय· ।।१४।।

हे प्रभु! चारित्र रूपी उपाय मे वार वार के अभ्याम से आप उस प्रकार से प्रवृत्त हुए हैं जिससे अनिच्छा से भी मोक्ष रूपी उत्कृष्ट लक्ष्मी आपने प्राप्त की है। (१४)

मैत्रीपवित्रपात्राय, मुदितामोदशालिने ।
कृपोपेक्षाप्रतीक्षाय, तुभ्य योगात्मने नम· ।।१५।।

मैत्री भावना के पवित्र पात्र स्वरूप, प्रमोद भावना के द्वारा सुशोभित तया करुणा एव मध्यस्थ भावना के द्वारा पूजनीय आप योगात्मा (योग स्वरूप) को नमस्कार हो। (१५)

—०—

मिथ्यादृशां युगान्तार्कः सुदृशाममृताञ्जनम् ।
तिलक तीर्थकृल्लक्ष्म्याः, पुरश्चक्रं तवैधते ॥१॥

मिथ्यादृष्टियो के लिये प्रलयकालीन सूर्य समान तथा सम्यग्-दृष्टियो के लिये अमृत के अञ्जन समान शान्ति-दायक, तीर्थकर की लक्ष्मी के तिलक-स्वरूप हे प्रभु ! आपके आगे धर्मचक्र सुशोभित हो रहा है । (१)

एकोऽयमेव जगति, स्वामीत्याख्यातुमुच्छ्रिता ।
उच्चैरिन्द्रध्वजव्याजात्तर्जनी जम्भविद्विषा ॥२॥

"जगत मे वीतराग ही एक स्वामी है"—यह कहने के लिये इन्द्र ने ऊचे इन्द्रध्वज के बहाने अपनी तर्जनी अगुली ऊची की हो ऐसा प्रतीत होता है । (२)

यत्र पादौ पदं धत्तस्तव तत्र सुरासुराः ।
किरन्ति पङ्कजव्याजाच्छ्रियं पङ्कजवासिनीम् ॥३॥

जहा आपके दो चरण पडते है वहा देव एव दानव स्वर्ण कमल के बहाने कमल मे निवास करने वाली लक्ष्मी का विस्तार करते हैं । (३)

दानशीलतपोभाव - भेदाद्धर्मं चतुर्विधम् ।
मन्ये युगपदाख्यातुं, चतुर्वक्त्रोऽभवद् भवान् ॥४॥

मैं यह मानता हू कि दान, शील, तप और भाव के भेद से चार प्रकार का धर्म एक साथ स्पष्ट करने के लिये ही आप चार मु ह युक्त हुए है ।(४)

त्वयि दोषत्रयात् त्रातुं, प्रवृत्ते भुवनत्रयीम् ।
प्राकारत्रितय चक्रुस्त्रयोऽपि त्रिदिवौकसः ॥५॥

तीनो लोको को राग, द्वेप तथा मोह रूपी तीनो दोषो से बचाने के लिये आपके प्रवृत्त होने से वैमानिक, ज्योतिषी और भुवनपति तीन प्रकार के देवो ने रत्नमय, स्वर्णमय एव रजतमय तीन प्रकार के किलो (समवसरण) की रचना की है । (५)

अधोमुखा कण्टका स्युर्धात्र्या विहरतस्तव ।
भवेयुः सम्मुखीना. किं, तामसास्तिग्मरोचिषः ?॥६॥

आपके पृत्वी पर विचरण करने से काटे अधोमुखी हो जाते है। क्या सूर्योदय होने पर उलूक अथवा अधकार का ममूह ठहर सकता है ? (६)

केशरोमनखश्मश्रु, तवावस्थितमित्ययम् ।
वाह्योऽपि योगमहिमा, नाप्तस्तीर्थकरैः परै ।।७।।

आपके वाल, रोम, नाखून और दाढी-मूछो के बाल, दीक्षा ग्रहण करने के समय जितने होते है उतने ही रहते हैं । इस प्रकार की बाह्य योग की महिमा भी अन्य देवो ने प्राप्त नही की । (७)

शब्दरूपरसस्पर्श–गन्धाख्याः पञ्च गोचराः ।
भजन्ति प्रातिकूल्य न, त्वदग्रे तार्किका इव ।।८।।

आपके समक्ष अन्य (बौद्ध) तार्किको की तरह शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्ध रूप पाचो इन्द्रियो के विषय प्रतिकूल नही होते, अनुकूल रहते हैं। (८)

त्वत्पादावृतवः सर्वे, युगपत्पर्यु पासते ।
आकालकृतकन्दर्प – साहायकभयादिव ।।९।।

मानो अनादि काल से कामदेव को की गई सहायता के भय से ही समस्त ऋतुयें एक साथ आकर आपके चरणो की सेवा करती हैं। (९)

सुगन्ध्युदकवर्षेण, दिव्यपुष्पोत्करेण च ।
भावित्वत्पादसस्पर्शां, पूजयन्ति भुव सुराः ।।१०।।

जिस भूमि पर भविष्य मे आपके चरणो का स्पर्श होने वाला है उस भूमि को देवतागण सुगन्धित जल की वृष्टि से तथा दिव्य पुष्पो के समूह से पूजते हैं । (१०)

जगत्प्रतीक्ष्य ! त्वां यान्ति, पक्षिणोऽपि प्रदक्षिणम् ।
का गतिर्महतां तेषा, त्वयि ये वामवृत्तय ? ।।११।।

हे विश्व पूज्य ! पक्षी भी आपकी प्रदक्षिणा करते हैं, तो फिर आपके प्रति प्रतिकूल व्यवहार करने वाले तथाकथित वडे पुरुषो की क्या गति समझी जाये ? (११)

पञ्चेन्द्रियाणां दौःशील्यं, क्व भवेद् भवदन्तिके ।
एकेन्द्रियोऽपि यन्मुञ्चत्यनिलः प्रतिकूलताम् ।।१२।।

आपके समक्ष पचेन्द्रिय तो दुष्टता कर ही कैसे सकते है, क्योकि एकेन्द्रिय वायु भी आपके समक्ष प्रतिकूलता का त्याग कर देता है। (१२)

मूर्ध्ना नमन्ति तरवस्त्वन्माहात्म्यचमत्कृताः ।
तत्कृतार्थं शिरस्तेषा, व्यर्थं मिथ्यादृशां पुनः ।।१३।।

हे प्रभु ! आपके माहात्म्य से चमत्कृत वृक्ष भी आपके समक्ष नत मस्तक होते हैं जिससे उनके मस्तक कृतार्थ हैं, किन्तु आपके समक्ष नत मस्तक नही होने वाले मिथ्यात्वियो के मस्तक व्यर्थ हैं । (१३)

जघन्यत कोटिसख्यास्त्वां सेवन्ते सुरासुरा ।
भाग्यसम्भारलभ्येऽर्थे, न मन्दा अप्युदासते ।।१४।।

हे प्रभु ! जघन्य से एक करोड देव एव असुर आपकी सेवा करते है, क्योकि भाग्योदय से प्राप्त पदार्थ के लिये मन्द आत्मा भी उदासीन नही रहते। (१४)

—o—

पाचवा प्रकाश

गायन्निवालिविरुतैर्नृत्यन्निवचलैर्दलैः ।
त्वद्गुणैरिव रक्तोऽसौ, मोदते चैत्यपादपः ।।१।।

हे नाथ ! भौरो के गुञ्जन से मानो गीत गाता हो, चचल पत्तो के द्वारा मानो नृत्य करता हो तथा आपके गुणो से मानो रक्त हुआ हो उस प्रकार से यह अशोक वृक्ष प्रफुल्लित हो रहा है। (१)

आयोजनं सुमनसोऽधस्तान्निक्षिप्तबन्धना ।
जानुदघ्नीः सुमनसो, देशनोर्व्यां किरन्ति ते ।।२।।

हे नाथ ! एक योजन तक जिनके दीटडे नीचे हैं ऐसे जानु प्रमाण पुष्पो को देवतागण आपकी देशना भूमि पर बरसाते है। (२)

स्पृहयन्ति वद् योगाय, यत्तेऽपि लवसत्तमा ।
योग-मुद्रादरिद्राणा, परेषा तत्कथैव का ? ॥४॥

आपके योग की स्पृहा लवसप्तम अनुत्तर विमानवासी देव भी करते हैं। योग-मुद्रा से रहित पर-दार्शनिको मे उस योग की वात भी क्यो हो ? नही होगी। (४)

त्वां प्रपद्यामहे नाथ, त्वा स्तुमस्त्वामुपास्महे ।
त्वत्तो हि न परस्त्राता, किं ब्रूम॰? किमु कुर्महे? ॥५॥

आपको हम नाथ के रूप मे स्वीकार करते हैं, आपकी हम स्तुति करते हैं और आपकी हम उपामना करते हैं, क्योकि आपसे अधिक अन्य कोई हमारा रक्षक नही है, आपकी स्तुति से अधिक अन्य कुछ भी बोलने योग्य नही है और आपकी उपासना से अधिक अन्य कुछ भी करने योग्य नही है। (५)

स्वय मलीमसाचारै . प्रतारणपरै परैः ।
वञ्च्यते जगदप्येतत्कस्य पूत्कुर्महे पुर. ? ॥६॥

स्वय मलिन आचार वाले और पर को ठगने मे तत्पर अन्य देवो के द्वारा यह विश्व ठगा जा रहा है। हे नाथ ! हम किसके समक्ष जाकर पुकार करें ? (६)

नित्यमुक्तान् जगज्जन्म –क्षेमक्षयकृतोद्यमान् ।
वन्ध्यास्तनन्धयप्रायान्, को देवाश्चेतन॰ श्रयेत् ॥७॥

नित्य मुक्त एव जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करने मे प्रयत्नशील वन्ध्या (वाझ) के पुत्र के समान देवो का कौन सचेतन व्यक्ति आश्रय ग्रहण करेगा ? (७)

कृतार्था जठरोपस्थ –दु स्थितैरपि दैवतैः ।
भवादृशान्निह्नुवते, हा हा ? देवास्तिका. परै ॥८॥

जठर (उदर) एव उपस्थ (इन्द्रियवर्ग) से पीडित देवो से कृतकृत्य बने अन्य देव – आस्तिक कुतीर्थिक आप जैसे का अपलाप करते है, जो सचमुच अत्यन्त दुख का विषय है। (८)

वृद्धि होती हुई आपकी पुण्य ऋद्धि के क्रम के समान एक दूसरे पर आये हुए तीन छत्र मानो तीनो लोको मे छाई हुई आपकी प्रभुता की प्रौढता बता रहे है। (८)

एतां चमत्कारकरीं, प्रातिहार्यश्रिय तव।
चित्रीयन्ते न के दृष्ट्वा, नाथ! मिथ्यादृशोऽपि हि ॥९॥

हे नाथ! चमत्कारपूर्ण आपकी इस प्रातिहार्य लक्ष्मी को देखकर किन मिथ्यात्वियो को आश्चर्य नही होता? अर्थात् सभी को आश्चर्य होता है। (९)

—०—

छठा प्रकाश

लावण्यपुण्यवपुषि, त्वयि नेत्रामृताञ्जने।
माध्यस्थ्यमपि दौःस्थ्याय, किं पुनर्द्वेषविप्लव ॥१॥

नेत्रो के लिये अमृत के अञ्जन के समान और लावण्य से पवित्र देह वाले आपके लिये मध्यस्थता धारण करना भी दु ख के लिये है, तो फिर द्वेष भाव धारण करने वालो के लिये तो कहना ही क्या? (१)

तवापि प्रतिपक्षोऽस्ति, सोऽपि कोपादिविप्लुतः।
अनया किंवदन्त्याऽपि, किं जीवन्ति विवेकिनः ॥२॥

आपके भी प्रतिपक्षी (शत्रु) है और वे भी क्रोध आदि से व्याप्त है। इस प्रकार की किंवदन्ति (कुत्सित बात) सुनकर विवेकी पुरुष क्या प्राण धारण कर सकते है? कदापि नही। (२)

विपक्षस्ते विरक्तश्चेत्, स त्वमेवाथ रागवान्।
न विपक्षो विपक्षः किं, खद्योतो द्युतिमालिनः? ॥३॥

आपका विपक्ष यदि विरक्त है तो वह आप ही हैं और यदि रागी है तो वह विपक्ष ही नही है। क्या सूर्य का शत्रु (विपक्ष) खद्योत (जुगनू) हो सकता है? (३)

स्पृहयन्ति वद् योगाय, यत्तेऽपि लवसत्तमा ।
योग-मुद्रादरिद्राणां, परेषा तत्कथैव का ? ॥४॥

आपके योग की स्पृहा लवसप्तम अनुत्तर विमानवासी देव भी करते हैं । योग-मुद्रा से रहित पर-दार्शनिको मे उस योग की बात भी क्यो हो ? नही होगी । (४)

त्वा प्रपद्यामहे नाथं, त्वां स्तुमस्त्वामुपास्महे ।
त्वत्तो हि न परस्त्राता, किं ब्रूमः? किमु कुर्महे? ॥५॥

आपको हम नाथ के रूप मे स्वीकार करते हैं, आपकी हम स्तुति करते हैं और आपकी हम उपासना करते हैं, क्योकि आपसे अधिक अन्य कोई हमारा रक्षक नही है, आपकी स्तुति से अधिक अन्य कुछ भी बोलने योग्य नही है और आपकी उपासना से अधिक अन्य कुछ भी करने योग्य नही है । (५)

स्वय मलीमसाचारैः, प्रतारणपरैः परैः ।
वञ्च्यते जगदप्येतत्कस्य पूत्कुर्महे पुरः ? ॥६॥

स्वय मलिन आचार वाले और पर को ठगने मे तत्पर अन्य देवो के द्वारा यह विश्व ठगा जा रहा है । हे नाथ ! हम किसके समक्ष जाकर पुकार करें ? (६)

नित्यमुक्तान् जगज्जन्म –क्षेमक्षयकृतोद्यमान् ।
वन्ध्यास्तनन्धयप्रायान्, को देवाश्चेतन· श्रयेत् ॥७॥

नित्य मुक्त एव जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करने मे प्रयत्नशील वन्ध्या (वाझ) के पुत्र के समान देवो का कौन सचेतन व्यक्ति आश्रय ग्रहण करेगा ? (७)

कृतार्था जठरोपस्थ –दुःस्थितैरपि दैवतैः ।
भवादृशान्निह्नुवते, हा हा ? देवास्तिका· परे ॥८॥

जठर (उदर) एव उपस्थ (इन्द्रियवर्ग) से पीडित देवो से कृतकृत्य वने अन्य देव – आस्तिक कुतीर्थिक आप जैसे का अपलाप करते है, जो सचमुच अत्यन्त दुख का विषय है । (८)

खपुष्पप्रायमुत्प्रेक्ष्य, किञ्चिन्मानं प्रकल्प्य च ।
संमान्ति देहे गेहे वा, न गेहेनर्दिन परे ॥९॥

आकाश के पुष्प के समान किसी वस्तु की कल्पना करके और उसे सिद्ध करने के लिये किसी प्रमाण को प्रस्तुत करके घर मे शूरवीर(गेहेनर्दी) परतीर्थिक अपने देह मे अथवा घर मे समाते नही हैं अर्थात् हमारा ही धर्म श्रेष्ठ है यह मानकर व्यर्थ फूलते है। (९)

कामराग-स्नेहरागा -वीषत्करनिवारणौ ।
दृष्टिरागस्तु पापीयान्, दुरूच्छेदः सतामपि ॥१०॥

काम-राग एव स्नेह-राग का निवारण सुकर है, किन्तु पापी दृष्टि-राग सज्जन पुरुषो के लिये भी दुरुच्छेद है। (१०)

प्रसन्नमास्यं मध्यस्थे, दृशौ लोकम्पृणं वचः ।
इति प्रीतिपदे बाढं, मूढास्त्वय्यप्युदासते ॥११॥

प्रसन्न मुख, मध्यस्थ लोचन और लोकप्रिय वचनो के धारक अत्यन्त प्रेम के स्थान स्वरूप आपके विषय मे भी मूढ लोग उदासीन रहते हैं।(११)

तिष्ठेद्वायुर्द्रवेदद्रि -र्ज्वलेज्जलमपि क्वचित् ।
तथापि ग्रस्तो रागाद्यै -र्नाप्तो भवितुमर्हति ॥१२॥

कदाचित् वायु स्थिर हो जाये, पर्वत पिघल जाये और जल जाज्वल्यमान हो जाये, तो भी राग आदि से ग्रस्त पुरुष आप्त होने के योग्य नही है। (१२)

—०—

सातवा प्रकाश

धर्माधर्मौ विना नाङ्गं, विनाङ्गेन मुखं कुतः ।
मुखाद्विना न वक्तृत्वं, तच्छास्तारः परे कथम् ? ॥१॥

धर्म और अधर्म विहीन देह नही होता, देह के बिना मुह नही होता और मुह के बिना वाणी नही होती। तो फिर धर्म, अधर्म और देह आदि से रहित अन्य देव उपदेशक कैसे हो सकते है ? (१)

अदेहस्य जगत्सर्गे, प्रवृत्तिरपि नोचिता ।
न च प्रयोजन किचित्, स्वातन्त्र्या(त्र्या)न्न पराज्ञया ॥२॥

देह रहित के लिये जगत् का सृजन करने की प्रवृत्ति भी उचित नही है, कृतकृत्य होने से सृजन करने का कोई प्रयोजन नही है और स्वतन्त्र होने से दूसरे की आज्ञा पर भी चलना नही है। (२)

क्रीडया चेत्प्रवर्त्तेत, रागवान् स्यात कुमारवत् ।
कृपयाऽथ सृजेत्तर्हि, सुख्येव सकल सृजेत् ॥३॥

क्रीडा के लिये यदि प्रवृत्त हो तो बालक की तरह रागी सिद्ध होगा और यदि कृपा से करे तो समस्त जगत् को सुखी ही करे। (३)

दु खदौर्गत्यदुर्योनि -जन्मादिक्लेशविह्वलम् ।
जन तु सृजतस्तस्य, कृपालो का कृपालुता ? ॥४॥

दु ख, दुर्गति और दुष्ट योनियो मे जन्म आदि के क्लेश से विह्वल जगत् का सृजन करने वाले उस कृपालु की कृपा कहा रही ? (४)

कर्मापेक्ष. स चेत्तर्हि, न स्वतन्त्रोऽस्मदादिवत् ।
कर्मजन्ये च वैचित्र्ये, किमनेन शिखण्डिना ? ॥५॥

दु ख आदि देने मे यदि वह प्राणियो के कर्म की अपेक्षा रखता है तो वह हमारी-तुम्हारी तरह स्वतन्त्र नही है, यही सिद्ध होता है और जगत् की विचित्रता यदि कर्म - जनित है तो शिखण्डी की तरह उसको बीच में लाने की भी क्या आवश्यकता है ? (५)

अथ स्वभावतो वृत्ति -रवितर्क्या महेशितु ।
परीक्षकाणा तर्ह्येष, परीक्षाक्षेपडिण्डिम· ॥६॥

और यदि महेश्वर की यह प्रवृत्ति स्वभाव से ही है किन्तु तर्क करने योग्य नही है, इस प्रकार कहोगे तो वह परीक्षको को परीक्षा करने का निषेध करने के लिये ढोल बजाने के समान है। (६)

सर्वभावेषु कर्तृत्व, ज्ञातृत्व यदि सम्मतम् ।
मत न· सन्ति सर्वज्ञा, मुक्ता कायभृतोऽपि च ॥७॥

समस्त पदार्थो का ज्ञातृत्व ही यदि कर्तृत्व है तो उस बात से हम भी सहमत हैं, क्योकि हमारा यह मत है कि सर्वज्ञ, मुक्त-देह रहित (सिद्ध) है और देहधारी (अरिहन्त) भी है। (७)

सृष्टिवादकुहेवाक –मुन्मुच्यत्यप्रमाणकम् ।
त्वच्छासने रमन्ते ते, येषां नाथ ! प्रसीदसि ॥८॥

हे नाथ ! जिनके ऊपर आप प्रसन्न हैं, वे आत्मा प्रमाण रहित सृष्टिवाद का दुराग्रह छोड कर आपके शासन मे रमण करते है। (८)

—०—

आठवा प्रकाश

सत्त्वस्यैकान्तनित्यत्वे, कृतनाशाकृतागमौ ।
स्यातामेकान्तनाशेऽपि, कृतनाशाकृतागमौ ॥१॥

पदार्थ की एकान्त नित्यता मानने मे कृतनाश एव अकृतागम नामक दो दोष है। एकान्त अनित्यता मानने मे भी कृतनाश एव अकृतनाश नामक दो दोष विद्यमान है। (१)

आत्मन्येकान्तनित्ये स्यान्न भोगः सुखदु खयोः ।
एकान्तानित्यरूपेऽपि, न भोगः सुखदुःखयो ॥२॥

आत्मा को एकान्त नित्य मानने मे सुख - दु ख का भोग घटता नही है। एकान्त अनित्य स्वरूप मानने मे भी सुख - दु ख का भोग घटता नही है। (२)

पुण्यपापे बन्धमोक्षौ, न नित्यैकान्तदर्शने ।
पुण्यपापे बन्धमोक्षौ, नानित्यैकान्तदर्शने ॥३॥

एकान्त नित्य दर्शन मे पुण्य - पाप और बन्ध - मोक्ष घटते नही है। एकान्त अनित्य दर्शन मे भी पुण्य - पाप और बध-मोक्ष घटते नही हैं। (३)

क्रमाक्रमाभ्यां नित्यानां, युज्यतेऽर्थक्रिया न हि ।
एकान्तक्षणिकत्वेऽपि, युज्यतेऽर्थक्रिया न हि ॥४॥

नित्य पदार्थों मे क्रम से अथवा विना क्रम से अर्थ-क्रिया घटती नही है और एकान्त क्षणिक पक्ष मे भी क्रम से अथवा क्रम के विना अर्थक्रिया घटती ही नही है। (४)

यदा तु नित्यानित्यत्व –रूपता वस्तुनो भवेत्।
यथार्थं भगवन्नेव, तदा दोषोऽस्ति कश्चन ॥५॥

हे भगवन्! आपके कथनानुसार यदि वस्तु की नित्यानित्यता हो तो किसी भी प्रकार का दोष नही आता है। (५)

गुडो हि कफहेतुः स्यान्नागर पित्तकारणम्।
द्वयात्मनि न दोषोऽस्ति, गुडनागरभेषजे ॥६॥

गुड मे कफ उत्पन्न होता है और सौठ से पित्त होता है। जब गुड और सौठ मिश्रित कर ली जायें तब दोष नही रहता, किन्तु भेषज(औषधि) स्वरूप हो जाता है। (६)

द्वय विरुद्धं नैकत्राऽसत्प्रमाणप्रसिद्धितः।
विरुद्धवर्णयोगो हि, दृष्टो मेचकवस्तुषु ॥७॥

इसी प्रकार से एक वस्तु मे नित्यत्व एव अनित्यत्व दो विरुद्ध धर्मों का रहना भी विरुद्ध नही है। प्रत्यक्ष आदि किसी भी प्रमाण से उसमे विरोध सिद्ध नही हो सकता, क्योकि मेचक (कावडचीती) वस्तुओ मे विरुद्ध वर्णो का सयोग प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। (७)

विज्ञानस्यैकमाकार, नानाकारकरम्बितम्।
इच्छस्तथागत. प्राज्ञो, नानेकान्त प्रतिक्षिपेत् ॥८॥

विचित्र आकार रहित विज्ञान एक आकार वाला है। यह स्वीकार करने वाला प्राज्ञ बौद्ध भी अनेकान्तवाद का उत्थापन नही कर सकता। (८)

चित्रमेकमनेक च, रूपं प्रामाणिक वदन्।
योगो वैशेषिको वाऽपि, नानेकान्त प्रतिक्षिपेत् ॥९॥

एक चित्ररूप, अनेक रूप युक्त प्रमाण सिद्ध है यह कहने वाला योग अथवा वैशेषिक अनेकान्तवाद का उत्थापन नही कर सकता। (९)

इच्छन्प्रधानं सत्त्वाद्यैर्विरुद्धैर्गुम्फितं गुणैः ।
साख्यः संख्यावतां मुख्यो, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥१०॥

सतोगुण, रजोगुण आदि विरुद्ध गुणो से गुम्फित एक प्रधान (प्रकृति) का चाहक विद्वानो मे मुख्य साख्य भी अनेकान्तवाद का उत्थापन नही कर सकता । (१०)

विमतिस्सम्मतिर्वापि, चार्वाकस्य न मृग्यते ।
परलोकात्ममोक्षेषु , यस्य मुह्यति शेमुषी ॥११॥

परलोक, आत्मा और मोक्ष आदि प्रमाण सिद्ध पदार्थो के विषय मे भी जिसकी मति उदासीन है ऐसे चार्वाक नास्तिक की विमति है अथवा सम्मति है यह देखने की तनिक भी आवश्यकता नही है । (११)

तेनोत्पादव्ययस्थेम - सम्मिश्रं गोरसादिवत् ।
त्वदुपज्ञं कृतधियः, प्रपन्ना वस्तुतस्तु सत् ॥१२॥

उस कारण से बुद्धिमान पुरुष समस्त सत् पदार्थो को आपके कथनानुसार गोरस आदि की तरह उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से मिश्रित मानते है । (१२)

—०—

नवा प्रकाश

यत्राऽल्पेनाऽपि कालेन, त्वद्भक्तेः फलमाप्यते ।
कलिकालः स एकोऽस्तु, कृतं कृतयुगादिभिः ॥१॥

जहा अल्पकाल मे आपकी भक्ति का फल प्राप्त किया जा सकता है वह केवल एक कलियुग ही स्पृहणीय हो, कृतयुग आदि अन्य युगो को जाने दो । (१)

सुषमातो दु षमायां, कृपा फलवती तव ।
मेरुतो मरुभूमौ हि, श्लाघ्या कल्पतरोः स्थितिः ॥२॥

सुषम काल की अपेक्षा दु षम कलिकाल मे आपकी कृपा अधिक फलवती है । मेरु पर्वत की अपेक्षा मरुभूमि मे कल्पवृक्ष की स्थिति अधिक प्रशसनीय है । (२)

श्राद्ध श्रोता सुधीर्वक्ता, युज्येयाता यदीश ! तत् ।
त्वच्छासनस्य साम्राज्य -मेकच्छत्र कलावपि ।।३।।

हे ईश ! श्रद्धावान श्रोता एव बुद्धिमान वक्ता दोनो का योग हो जाये तो इस कलियुग मे भी आपके शासन का एकछत्र साम्राज्य है । (३)

युगान्तरेऽपि चेन्नाथ ! भवन्त्युच्छृङ्खलाः खला ।
वृथैव तर्हि कुप्यामः, कलये वामकेलये ।।४।।

हे नाथ! अन्य कृतयुग आदि मे भी गोशाला जैसे उच्छृ खल व्यक्ति होते है तो फिर अयोग्य क्रीडा वाले इस कलियुग के ऊपर हम व्यर्थ ही कुपित होते हैं । (४)

कल्याणसिद्ध्यै साधीयान् कलिरेव कषोपलः ।
विनाऽग्नि गन्धमहिमा, काकतुण्डस्य नैधते ।।५।।

कल्याण की सिद्धि के लिये इस कलियुग रूपी कसौटी का पत्थर ही श्रेष्ठ है । अग्नि के बिना काकतुण्ड (अगर) धूप के गन्ध की महिमा मे वृद्धि नही होती । (५)

निशि दीपोऽम्बुधौ द्वीप, मरौ शाखी हिमे शिखी ।
कलौ दुरापः प्राप्तोऽय, त्वत्पादाब्जरजः कणः ।।६।।

रात्रि में दीपक, सागर में द्वीप, मरु-भूमि मे वृक्ष और शीतकाल में अग्नि की तरह कलियुग मे दुर्लभ आपके चरण-कमलो की रज हमें प्राप्त हुई है । (६)

युगान्तरेषु भ्रान्तोऽस्मि, त्वद्दर्शनविना कृत ।
नमोऽस्तु कलये यत्र, त्वद्दर्शनमजायत ।।७।।

हे नाथ ! अन्य युगो मे आपके दर्शन किये विना ही मैंने ससार में परिभ्रमण किया है । अत इस कलियुग को ही नमस्कार है कि जिसमें मुझे आपके दर्शन हुए । (७)

बहुदोषो दोषहीनात्त्वत कलिरशोभत ।
विषयुक्तो विषहरात्फणीन्द्र इव रत्नतः ।।८।।

हे नाथ ! विषाक्त (विषैला) विषधर जिस प्रकार विषहारी रत्न से सुशोभित होता है, उसी प्रकार से अनेक दोषो से युक्त यह कलियुग समस्त दोषो से रहित आपसे शोभायमान है । (८)

—०—

सर्वथा निर्जिगीषेण, भीतभीतेन चागसः ।
त्वया जगत्त्रयं जिग्ये, महतां कापि चातुरी ॥३॥

हे नाथ ! सर्वथा जीतने की अनिच्छा होने पर भी तथा पाप से अत्यन्त भयभीत होते हुए भी आपने तीनो लोको को जीत लिया है। सच-मुच महान आत्माओ की चतुराई कोई अद्भुत ही होती है। (३)

दत्त न किञ्चित्कस्मैचिन्नात्तं किञ्चित्कुतश्चन ।
प्रभुत्वं ते तथाप्येतत्, कला कापि विपश्चिताम् ॥४॥

हे नाथ ! आपने किसी को कुछ (राज्य आदि) दिया नही और किसी से कुछ (दण्ड आदि) लिया नही, तो भी आपका यह प्रभुत्व है जिससे यह लगता है कि कुशल पुरुषो की कला कोई अद्भुत होती है। (४)

यद्देहस्यापि दानेन, सुकृतं नार्जितं परैः ।
उदासीनस्य तन्नाथ !, पादपीठे तवालुठत् ॥५॥

हे नाथ ! देह का दान देकर भी अन्यो ने जो सुकृत नही कमाया, वह सुकृत उदासीनता से रहने वाले आपके पादपीठ में लेटता रहा। (५)

रागादिषु नृशंसेन, सर्वात्मसु कृपालुना ।
भीमकान्तगुणेनोच्चैः, साम्राज्यं साधितं त्वया ॥६॥

हे नाथ ! राग आदि के प्रति क्रूर एव समस्त प्राणियो के प्रति दयालु आपने भयानकता तथा मनोहरता रूपी दो गुणो से महान् साम्राज्य प्राप्त कर लिया है। (६)

सर्वे सर्वात्मनाऽन्येषु, दोषास्त्वयि पुनर्गुणाः ।
स्तुतिस्तवेयं चेन्मिथ्या, तत्प्रमाणं सभासदः ॥७॥

हे नाथ ! पर-तीर्थिको मे समस्त प्रकार के समस्त दोष हैं और आपमे समस्त प्रकार से समस्त गुण हैं। यदि आपकी यह स्तुति मिथ्या हो तो सभासद प्रमाण हैं। (७)

महीयसामपि महान्, महनीयो महात्मनाम् ।
अहो ! मे स्तुवतः स्वामी, स्तुतेर्गोचरमागमत् ॥८॥

अहो ! हर्ष की बात यह है कि बडे से बडे और महात्माओ द्वारा भी [illegible] स्वामी की आज मैं स्तुति कर रहा हूँ। (८)

—०—

भक्ति

द्वय विरुद्ध भगवंस्तव नान्यस्य कस्यचित् ।
निर्ग्रन्थता परा या च, या चोच्चैश्चक्रवर्तिता ॥६॥

हे भगवन् ! श्रेष्ठ निर्ग्रन्थता (नि स्पृहता) और उत्कृष्ट चक्रवर्तित्व (धर्म सम्राट् पदवी) ये दो विरुद्ध बातें आपके अतिरिक्त अन्य किसी भी देव में नही है। (६)

नारका अपि मोदन्ते, यस्य कल्याणपर्वसु ।
पवित्र तस्य चारित्र, को वा वर्णयितु क्षम ? ॥७॥

अथवा तो जिनके पाचो कल्याणक पर्वों में नारकीय जीव भी सुख प्राप्त करते हैं, उनके पवित्र चारित्र का वर्णन करने मे कौन समर्थ है। (७)

शमोऽद्भुतोऽद्भुत रूप, सर्वात्मसु कृपाद्भुता ।
सर्वाद्भुतनिधीशाय, तुभ्य भगवते नम ॥८॥

अद्भुत समता, अद्भुत रूप और समस्त प्राणियो पर अद्भुत कृपा करने वाले तथा समस्त अद्भुतो के महानिधान हे भगवन् ! आपको नमस्कार हो। (८)

—०—

गयारहवा प्रकाश

निघ्नन्परीषहचमूमुपसर्गान् प्रतिक्षिपन् ।
प्राप्तोऽसि शमसौहित्य, महतां कापि वैदुषी ॥१॥

हे नाथ ! परीषहो की सेना का सहार करने वाले तथा उपसर्गो का तिरस्कार करने वाले आपने समता रूपी अमृत की तृप्ति प्राप्त की है। अहो ! बडो की चतुराई कुछ अद्भुत होती है। (१)

अरक्तो भुक्तवान्मुक्ति -मद्विष्टो हतवान्द्विष. ।
अहो ! महात्मना कोऽपि, महिमा लोकदुर्लभः ॥२॥

हे नाथ ! आप राग-रहित है फिर भी मुक्ति-रमणी का उपभोग करते है और द्वेष-रहित है फिर भी आप आतरिक शत्रुओ का सहार करते हैं। अहो ! लोक मे दुर्लभ महान आत्माओ की महिमा कोई अद्भुत ही होती है। (२)

मत्प्रसत्तेस्त्वत्प्रसादस्त्वत्प्रसादादियं पुनः ।
इत्यन्योन्याश्रय भिन्धि, प्रसीद भगवन् ! मयि ।।१।।

हे भगवन् मेरी प्रसन्नता से आपकी प्रसन्नता और आपकी प्रसन्नता से मेरी प्रसन्नता इस प्रकार के अन्योन्याश्रय दोष का आप भेदन करे और मुझ पर प्रसन्न हो। (१)

निरीक्षितुं रूपलक्ष्मीं, सहस्राक्षोऽपि न क्षम ।
स्वामिन् ! सहस्रजिह्वोऽपि, शक्तो वक्तुं न ते गुणान् ।।२।।

हे स्वामी ! आपके रूप की शोभा निहारने के लिये हजार नेत्रो वाला (इन्द्र) भी समर्थ नही है तथा आपका गुण-गान करने के लिये हजार जीभ वाला (शेष नाग) भी समर्थ नही है। (२)

सशयान् नाथ ! हरसेऽनुत्तरस्वर्गिणामपि ।
अतः परोऽपि किं कोऽपि, गुण स्तुत्योऽस्ति वस्तुत ।।३।।

हे नाथ ! आप यहा है तो भी अनुत्तर विमान-वासी देवताओ के सशय दूर करते है। अत अन्य कोई भी गुण वस्तुत परमार्थ से स्तुति करने योग्य है ? अर्थात् नही है। (३)

इदं विरुद्धं श्रद्धता, कथमश्रद्दधानकः ! ।
आनन्दं सुखसक्तिश्च, विरक्तिश्च सम त्वयि ।।४।।

अखण्ड आनन्द स्वरूप सुख मे आसक्ति एव सकल सग से विरक्ति ये दो विपरीत वाते आपमे एक साथ विद्यमान है। अश्रद्धालु मनुष्य इस वात की श्रद्धा कैसे करे ? (४)

नाथेयं घट्यमानापि, दुर्घटा घटतां कथम् ? ।
उपेक्षा सर्वसत्त्वेषु, परमा चोपकारिता ।।५।।

हे नाथ ! समस्त प्राणियो से उपेक्षा (राग-द्वेष-रहितता) और परमोपकारिता (सम्यग् दर्शन आदि मोक्ष मार्ग की उपदेशकता) ये दो वाते आप में प्रत्यक्ष प्रतीत होती होने से घटित, फिर भी अन्य देवो मे अघटित हो सकती है ? (५)

द्वयं विरुद्धं भगवस्तव नान्यस्य कस्यचित् ।
निर्ग्रन्थता परा या च, या चोच्चैश्चक्रवर्तिता ॥६॥

हे भगवन् ! श्रेष्ठ निर्ग्रन्थता (नि स्पृहता) और उत्कृष्ट चक्रवर्तित्व (धर्म सम्राट् पदवी) ये दो विरुद्ध बातें आपके अतिरिक्त अन्य किसी भी देव में नही है। (६)

नारका अपि मोदन्ते, यस्य कल्याणपर्वसु ।
पवित्र तस्य चारित्र, को वा वर्णयितु क्षमः ? ॥७॥

अथवा तो जिनके पाचो कल्याणक पर्वो मे नारकीय जीव भी सुख प्राप्त करते हैं, उनके पवित्र चारित्र का वर्णन करने मे कौन समर्थ है। (७)

शमोऽद्भुतोऽद्भुत रूपं, सर्वात्मसु कृपाद्भुता ।
सर्वाद्भुतनिधीशाय, तुभ्य भगवते नम ॥८॥

अद्भुत समता, अद्भुत रुप और समस्त प्राणियो पर अद्भुत कृपा करने वाले तथा समस्त अद्भुतो के महानिधान हे भगवन् ! आपको नमस्कार हो। (८)

—०—

गयारहवा प्रकाश

निघ्नन्परीषहचमूमुपसर्गान् प्रतिक्षिपन् ।
प्राप्तोऽसि शमसौहित्यं, महतां कापि वैदुषी ॥१॥

हे नाथ ! परीषहो की सेना का सहार करने वाले तथा उपसर्गो का तिरस्कार करने वाले आपने समता रूपी अमृत की तृप्ति प्राप्त की है। अहो ! बडो की चतुराई कुछ अद्भुत होती है। (१)

अरक्तो भुक्तवान्मुक्ति –मद्विष्टो हतवान्द्विष ।
अहो ! महात्मना कोऽपि, महिमा लोकदुर्लभः ॥२॥

हे नाथ ! आप राग-रहित है फिर भी मुक्ति-रमणी का उपभोग करते हैं और द्वेष-रहित हैं फिर भी आप आतरिक शत्रुओ का सहार करते हैं। अहो ! लोक मे दुर्लभ महान आत्माओ की महिमा कोई अद्भुत ही होती है। (२)

मत्प्रसत्तेस्त्वत्प्रसादस्त्वत्प्रसादादियं पुनः ।
इत्यन्योन्याश्रय भिन्धि, प्रसीद भगवन् ! मयि ।।१।।

हे भगवन् मेरी प्रसन्नता से आपकी प्रसन्नता और आपकी प्रसन्नता से मेरी प्रसन्नता इस प्रकार के अन्योन्याश्रय दोष का आप भेदन करे और मुझ पर प्रसन्न हो। (१)

निरीक्षितु रूपलक्ष्मीं, सहस्राक्षोऽपि न क्षम ।
स्वामिन् ! सहस्रजिह्वोऽपि, शक्तो वक्तु न ते गुणान् ।।२।।

हे स्वामी ! आपके रूप की शोभा निहारने के लिये हजार नेत्रो वाला (इन्द्र) भी समर्थ नही है तथा आपका गुण-गान करने के लिये हजार जीभ वाला (शेष नाग) भी समर्थ नही है। (२)

संशयान् नाथ ! हरसेऽनुत्तरस्वर्गिणामपि ।
अतः परोऽपि किं कोऽपि, गुण स्तुत्योऽस्ति वस्तुत ।।३।।

हे नाथ ! आप यहा है तो भी अनुत्तर विमान-वासी देवताओ के सशय दूर करते है। अत: अन्य कोई भी गुण वस्तुत परमार्थ से स्तुति करने योग्य है ? अर्थात् नही है। (३)

इदं विरुद्धं श्रद्धतां, कथमश्रद्दधानकः ! ।
आनन्दं सुखसक्तिश्च, विरक्तिश्च सम त्वयि ।।४।।

अखण्ड आनन्द स्वरूप सुख मे आसक्ति एव सकल सग से विरक्ति ये दो विपरीत बाते आपमें एक साथ विद्यमान है। अश्रद्धालु मनुष्य इस बात की श्रद्धा कैसे करे ? (४)

नाथेयं घट्यमानापि, दुर्घटा घटतां कथम् ? ।
उपेक्षा सर्वसत्त्वेषु, परमा चोपकारिता ।।५।।

हे नाथ ! समस्त प्राणियो से उपेक्षा (राग-द्वेष-रहितता) और परमोपकारिता (सम्यग् दर्शन आदि मोक्ष मार्ग की उपदेशकता) ये दो बाते आप मे प्रत्यक्ष प्रतीत होती होने से घटित, फिर भी अन्य देवो में अघटित हो सकती है ? (५)

द्वयं विरुद्धं भगवस्तव नान्यस्य कस्यचित् ।
निर्ग्रन्थता परा या च, या चोच्चैश्चक्रवर्तिता ॥६॥

हे भगवन् ! श्रेष्ठ निर्ग्रन्थता (नि स्पृहता) और उत्कृष्ट चक्रवर्तित्व (धर्म सम्राट् पदवी) ये दो विरुद्ध बातें आपके अतिरिक्त अन्य किसी भी देव मे नही है। (६)

नारका अपि मोदन्ते, यस्य कल्याणपर्वसु ।
पवित्र तस्य चारित्रं, को वा वर्णयितुं क्षमः ? ॥७॥

अथवा तो जिनके पाचो कल्याणक पर्वों में नारकीय जीव भी सुख प्राप्त करते हैं, उनके पवित्र चारित्र का वर्णन करने में कौन समर्थ है। (७)

शमोऽद्भुतोऽद्भुत रूपं, सर्वात्मसु कृपाद्भुता ।
सर्वाद्भुतनिधीशाय, तुभ्य भगवते नम ॥८॥

अद्भुत समता, अद्भुत रूप और समस्त प्राणियो पर अद्भुत कृपा करने वाले तथा समस्त अद्भुतो के महानिधान हे भगवन् ! आपको नमस्कार हो। (८)

—०—

गयारहवा प्रकाश

निघ्नन्परीषहचमूमुपसर्गान् प्रतिक्षिपन् ।
प्राप्तोऽसि शमसौहित्य, महतां कापि वैदुषी ॥१॥

हे नाथ ! परीषहो की सेना का सहार करने वाले तथा उपसर्गों का तिरस्कार करने वाले आपने समता रूपी अमृत की तृप्ति प्राप्त की है। अहो ! बडो की चतुराई कुछ अद्भुत होती है। (१)

अरक्तो भुक्तवान्मुक्ति –मद्विष्टो हतवान्द्विष· ।
अहो ! महात्मना कोऽपि, महिमा लोकदुर्लभः ॥२॥

हे नाथ ! आप राग-रहित हैं फिर भी मुक्ति-रमणी का उपभोग करते हैं और द्वेष-रहित हैं फिर भी आप आतरिक शत्रुओ का सहार करते हैं। अहो ! लोक मे दुर्लभ महान आत्माओ की महिमा कोई अद्भुत ही होती है। (२)

सर्वथा निर्जिगीषेण, भीतभीतेन चागसः ।
त्वया जगत्त्रयं जिग्ये, महतां कापि चातुरी ॥३॥

हे नाथ ! सर्वथा जीतने की अनिच्छा होने पर भी तथा पाप से अत्यन्त भयभीत होते हुए भी आपने तीनो लोको को जीत लिया है। सचमुच महान आत्माओ की चतुराई कोई अद्भुत ही होती है। (३)

दत्त न किञ्चित्कस्मैचिन्नात्तं किञ्चित्कुतश्चन ।
प्रभुत्वं ते तथाप्येतत्, कला कापि विपश्चिताम् ॥४॥

हे नाथ ! आपने किसी को कुछ (राज्य आदि) दिया नही और किसी से कुछ (दण्ड आदि) लिया नही, तो भी आपका यह प्रभुत्व है जिससे यह लगता है कि कुशल पुरुषो की कला कोई अद्भुत होती है। (४)

यद्देहस्यापि दानेन, सुकृतं नार्जित परै ।
उदासीनस्य तन्नाथ !, पादपीठे तवालुठत् ॥५॥

हे नाथ ! देह का दान देकर भी अन्यो ने जो सुकृत नही कमाया, वह सुकृत उदासीनता से रहने वाले आपके पादपीठ में लेटता रहा। (५)

रागादिषु नृशसेन, सर्वात्मसु कृपालुना ।
भीमकान्तगुणेनोच्चैः, साम्राज्य साधितं त्वया ॥६॥

हे नाथ ! राग आदि के प्रति क्रूर एव समस्त प्राणियो के प्रति दयालु आपने भयानकता तथा मनोहरता रूपी दो गुणो से महान् साम्राज्य प्राप्त कर लिया है। (६)

सर्वे सर्वात्मनाऽन्येषु, दोषास्त्वयि पुनर्गुणाः ।
स्तुतिस्तवेयं चेन्मिथ्या, तत्प्रमाणं सभासदः ॥७॥

हे नाथ ! पर-तीर्थिको मे समस्त प्रकार के समस्त दोष हैं और आपमे समस्त प्रकार से समस्त गुण हैं। यदि आपकी यह स्तुति मिथ्या हो तो सभासद प्रमाण है। (७)

महीयसामपि महान्, महनीयो महात्मनाम् ।
अहो ! मे स्तुवतः स्वामी, स्तुतेर्गोचरमागमत् ॥८॥

अहो ! हर्ष की बात यह है कि वड़े से वडे और महात्माओ द्वारा भी पूजनीय स्वामी की आज मैं स्तुति कर रहा हूँ। (८)

—०—

पट्वभ्यासादरैः पूर्वं, तथा वैराग्यमाहरः ।
यथेह जन्मन्याजन्म, तत्सात्मीभावमागमत् ॥१॥

हे नाथ ! पूर्वभवो मे आदर पूर्वक के सुन्दर अभ्यास से आपने उस प्रकार का वैराग्य प्राप्त किया था कि जिससे आपको इस (चरम) भव मे जन्म से ही सहज वैराग्य प्राप्त हुआ है । साराश यह है कि आप जन्म से ही विरागी हैं । (१)

दु.खहेतुषु वैराग्य, न तथा नाथ ! निस्तुषम् ।
मोक्षोपायप्रवीणस्य, यथा ते सुखहेतुषु ॥२॥

हे नाथ ! मोक्ष प्राप्ति के उपाय मे प्रवीण आपको, सुख-हेतुओ मे जिस प्रकार का वैराग्य होता है, उसी प्रकार का वैराग्य दुःख-हेतुओ मे नही होता, क्योकि दु ख-हेतु वाला वैराग्य क्षणिक होने से भव-साधक है और सुख - हेतु वैराग्य निश्चल होने से मोक्ष - साधक है । (२)

विवेकशाणैर्वैराग्य, -शस्त्र शातं त्वया तथा ।
यथा मोक्षेऽपि तत्साक्षा -दकुण्ठितपराक्रम् ॥३॥

हे नाथ ! आपने विवेक रूपी शराण से वैराग्य रूपी शस्त्र को उस प्रकार से घिस कर तीक्ष्ण किया है कि जिससे मोक्ष के लिये भी उस वैराग्य रूपी शस्त्र का पराक्रम साक्षात् अकुण्ठित रहा । (३)

यदामरुन्नरेन्द्रश्री -स्त्वया नाथोपभुज्यते ।
यत्र तत्र रतिर्नाम, विरक्तत्व तदापि ते ॥४॥

हे नाथ ! जब आप पूर्व भव मे देव-ऋद्धि का और मनुष्य भव मे राज्य ऋद्धि का उपभोग करते हैं तब भी जहा जहा आपकी रति(आसक्ति) प्रतीत होती है वह भी विरक्ति होती है, क्योकि उस ऋद्धि का उपभोग करते हुए भी भोग-फल वाले कर्म का विना भोगे हुए क्षय नही होगा यह सोचकर आप अनासक्ति से ही उपभोग करते है ।[1] (४)

---

1 इस श्लोक मे भगवान के पूर्व भव तथा राज्य अवस्था की वैराग्य दशा का वर्णन है ।

अनुक्षित - फलोदग्रा -दनिपातगरीयसः ।
असङ्कल्पितकल्पद्रो, -स्त्वत्तः फलमवाप्नुयाम् ॥५॥

समस्त वृक्ष जल-सिंचन से ही समय पर फल देते हैं, गिरने पर ही अत्यन्त बोझ वाले होते हैं और प्रार्थना करने से ही वाछित वस्तु प्रदान करते है, परन्तु आप तो सिंचन किये बिना ही उदग्र-परिपूर्ण फल-दायक, गिरे बिना ही अर्थात् स्व-स्वरूप मे रहने से ही गौरवपूर्ण तथा प्रार्थना किये बिना ही वाछित प्रदान करने वाले है। ऐसे (अपूर्व) कल्प-वृक्ष स्वरूप आपसे मै फल प्राप्त करता हूँ। (५)

असङ्गस्य जनेशस्य, निर्ममस्य कृपात्मनः ।
मध्यस्थस्य जगत्त्रातु -रनङ्कस्तेऽस्मि किङ्करः ॥६॥

इस श्लोक मे परस्पर विरुद्ध विशेषण बताये है। जो सगरहित होता है वह लोक का स्वामी नही होता, जो ममता रहित हो वह किसी पर कृपा नही करता और जो मध्यस्थ-उदासीन हो वह अन्य की रक्षा नही करता; परन्तु आप तो समस्त सग के त्यागी होते हुए भी जगत् के लोगो के द्वारा सेव्य होने के कारण जनेश है, ममता रहित होते हुए भी जगत् के समस्त प्राणियो पर कृपा करने वाले हैं, राग-द्वेष का नाश किया हुआ होने से मध्यस्थ – उदासीन होते हुए भी एकान्त हितकारी धर्म का उपदेश देने से ससार से त्रस्त जगत् के जीवो के रक्षक है। उपर्युक्त विशेषणो से युक्त चिन्ह – कुग्रह रूपी कलक रहित आपका मैं सेवक हूँ। (जो सेवक होता है वह तलवार, बन्दूक आदि किसी चिन्ह से युक्त होता है।) (६)

अगोपिते रत्ननिधा -ववृते कल्पपादपे ।
अचिन्त्ये चिन्तारत्ने च, त्वय्यात्माऽयं मयार्पितः ॥७॥

नही छिपाये हुए रत्न के निधि के समान, कर्मरूपी वाड से अपरिवृत कल्पवृक्ष के समान और अचिन्तनीय चिन्तामणि रत्न के समान आपको (आपके चरण-कमलो में) मैंने अपनी यह आत्मा समर्पित कर दी है। (७)

फलानुध्यानवन्ध्योऽहं, फलमात्रतनुर्भवान् ।
प्रसीद यत्कृत्यविधौ, किंकर्तव्यजडे मयि ॥८॥

हे नाथ ! आप सिद्धत्व स्वरूप फल वाले केवल देह युक्त है। मैं ज्ञान आदि के फल सिद्धत्व के यथावस्थित स्मरण से भी रहित हू। अत मैं क्या करू ? इस विषय मे मैं जड (मूढ) हू। मुझ पर कृपा करके आप मुझे करने योग्य विधि बताने की कृपा करे। (८)

—०—

चौदहवां प्रकाश

मनोवच काय-चेष्टा, कष्टा संहृत्य सर्वथा ।
श्लथत्वेनैव भवता, मनःशल्यं वियोजितम् ॥१॥

मन, वचन, काया की सावद्य चेष्टाओ का सर्वथा परित्याग करके आपने स्वभाव से ही (शिथिलता से ही) मन रूपी शल्य को दूर किया है। (१)

सयतानि न चाक्षाणि, नैवोच्छृङ्खलितानि च ।
इति सम्यक् प्रतिपदा, त्वयेन्द्रियजय कृतः ॥२॥

हे प्रभु ! आपने बल पूर्वक इन्द्रियो को नियन्त्रित नही की तथा लोलुपता से उन्हे स्वतन्त्र भी नही छोडी, परन्तु यथावस्थित वस्तु तत्त्व को अगीकार करने वाले आपने सम्यक् प्रकार से कुशलता पूर्वक इन्द्रियो पर विजय प्राप्त की है। (२)

योगस्याष्टाङ्गता नून, प्रपञ्चः कथमन्यथा ? ।
आबालभावतोऽप्येष, तव सात्म्यमुपेयिवान् ॥३॥

हे योग रूपी समुद्र का पार पाये हुए भगवन् ! यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के आठ अङ्ग बताये गये हैं। वे केवल प्रपच (विस्तार) प्रतीत होते है, क्योकि यदि ऐसा नही हो तो आपको बाल्यावस्था से ही ये योग स्वाभाविक रीति से ही क्यो प्राप्त हो ? अर्थात् यह योग प्राप्ति का क्रम सामान्य योगियो की अपेक्षा से है। आप तो योगियो के भी नाथ हैं, अत आपके लिये ऐसा होने मे कोई आश्चर्य नही है। (३)

विषयेषु विरागस्ते, चिर सहचरेष्वपि ।
योगे सात्म्यदृष्टेऽपि, स्वामिन्निदमलौकिकम् ॥४॥

दीर्घकाल से परिचित विषयो के प्रति भी आपको वैराग्य है और कदापि नही देखे हुए योग के लिये तन्मयता है। हे स्वामी ! आपका यह चरित्र कोई अलौकिक है। (४)

अनुक्षित - फलोदग्रा –दनिपातगरीयसः ।
असङ्कलिपतकल्पद्रो, –स्त्वत्तः फलमवाप्नुयाम् ॥५॥

समस्त वृक्ष जल-सिचन से ही समय पर फल देते है, गिरने पर ही अत्यन्त बोझ वाले होते हैं और प्रार्थना करने से ही वाछित वस्तु प्रदान करते है, परन्तु आप तो सिचन किये बिना ही उदग्र-परिपूर्ण फल-दायक, गिरे बिना ही अर्थात् स्व-स्वरूप मे रहने से ही गौरवपूर्ण तथा प्रार्थना किये बिना ही वाछित प्रदान करने वाले हैं। ऐसे (अपूर्व) कल्प-वृक्ष स्वरूप आपसे मै फल प्राप्त करता हूँ। (५)

असङ्गस्य जनेशस्य, निर्ममस्य कृपात्मनः ।
मध्यस्थस्य जगत्त्रातु –रनङ्कस्तेऽस्मि किङ्करः ॥६॥

इस श्लोक मे परस्पर विरुद्ध विशेषण बताये है। जो सगरहित होता है वह लोक का स्वामी नही होता, जो ममता रहित हो वह किमी पर कृपा नही करता और जो मध्यस्थ-उदासीन हो वह अन्य की रक्षा नही करता; परन्तु आप तो समस्त सग के त्यागी होते हुए भी जगत् के लोगो के द्वारा सेव्य होने के कारण जनेश है, ममता रहित होते हुए भी जगत् के समस्त प्राणियो पर कृपा करने वाले है, राग-द्वेष का नाश किया हुआ होने से मध्यस्थ – उदासीन होते हुए भी एकान्त हितकारी धर्म का उपदेश देने से ससार से त्रस्त जगत् के जीवो के रक्षक हैं। उपर्युक्त विशेषणो से युक्त चिन्ह – कुग्रह रूपी कलक रहित आपका मैं सेवक हूँ। (जो सेवक होता है वह तलवार, बन्दूक आदि किसी चिन्ह से युक्त होता है।) (६)

अगोपिते रत्ननिधा –ववृते कल्पपादपे ।
अचिन्त्ये चिन्तारत्ने च, त्वय्यात्माऽयं मयार्पितः ॥७॥

नही छिपाये हुए रत्न के निधि के समान, कर्मरूपी वाड से अपरिवृत कल्पवृक्ष के समान और अचिन्तनीय चिन्तामणि रत्न के समान आपको (आपके चरण-कमलो में) मैंने अपनी यह आत्मा सर्मापित कर दी है। (७)

फलानुध्यानवन्ध्योऽहं, फलमात्रतनुर्भवान् ।
प्रसीद यत्कृत्यविधौ, किंकर्तव्यजडे मयि ॥८॥

हे नाथ ! आप सिद्धत्व स्वरूप फल वाले केवल देह युक्त हैं। मैं ज्ञान आदि के फल सिद्धत्व के यथावस्थित स्मरण से भी रहित हू। अत मैं क्या करूँ ? इस विषय मे मैं जड (मूढ) हू। मुझ पर कृपा करके आप मुझे करने योग्य विधि बताने की कृपा करें। (८)

—o—

चौदहवा प्रकाश

मनोवच काय-चेष्टा , कष्टा सहृत्य सर्वथा ।
श्लथत्वेनैव भवता, मनःशल्य वियोजितम् ॥१॥

मन, वचन, काया की सावद्य चेष्टाओ का सर्वथा परित्याग करके आपने स्वभाव से ही (शिथिलता से ही) मन रूपी शल्य को दूर किया है। (१)

संयतानि न चाक्षाणि, नैवोच्छृङ्खलितानि च ।
इति सम्यक् प्रतिपदा, त्वयेन्द्रियजय कृतः ॥२॥

हे प्रभु ! आपने बल पूर्वक इन्द्रियो को नियन्त्रित नही की तथा लोलुपता से उन्हे स्वतन्त्र भी नही छोडी, परन्तु यथावस्थित वस्तु तत्त्व को अगीकार करने वाले आपने सम्यक् प्रकार से कुशलता पूर्वक इन्द्रियो पर विजय प्राप्त की है। (२)

योगस्याष्टाङ्गता नून, प्रपञ्चः कथमन्यथा ? ।
आबालभावतोऽप्येष, तव सात्म्यमुपेयिवान् ॥३॥

हे योग रूपी समुद्र का पार पाये हुए भगवन् ! यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के आठ अङ्ग बताये गये हैं। वे केवल प्रपच (विस्तार) प्रतीत होते हैं, क्योकि यदि ऐसा नही हो तो आपको बाल्यावस्था से ही ये योग स्वाभाविक रीति से ही क्यो प्राप्त हो ? अर्थात् यह योग प्राप्ति का क्रम सामान्य योगियो की अपेक्षा से है। आप तो योगियो के भी नाथ हैं, अत आपके लिये ऐसा होने मे कोई आश्चर्य नही है। (३)

विषयेषु विरागस्ते, चिर सहचरेष्वपि ।
योगे सात्म्यदृष्टेऽपि, स्वामिन्निदमलौकिकम् ॥४॥

दीर्घकाल से परिचित विषयो के प्रति भी आपको वैराग्य है और कदापि नही देखे हुए योग के लिये तन्मयता है। हे स्वामी ! आपका यह चरित्र कोई अलौकिक है। (४)

तथा परे न रज्यन्त, उपकारपरे परे ।
यथाऽपकारिणि भवा -नहो ! सर्वमलौकिकम् ॥५॥

उपकार करने मे तत्पर भक्तो पर भी अन्य देव उतने प्रसन्न नही होते जितने प्रसन्न आप आपका अपकार करने वाले (कमठ, गोशाला आदि) प्राणियो पर होते हैं। अहो ! आपका समस्त अलौकिक है। (५)

हिंसका अप्युपकृता, आश्रिता अप्युपेक्षिताः ।
इदं चित्रं चरित्र ते, के वा पर्यनुयुञ्जताम् ? ॥६॥

हे वीतराग ! (चण्डकौशिक आदि) हिंसको पर आपने उपकार किया है और (सर्वानुभूति तथा सुनक्षत्रमुनि आदि) आश्रितो की आपने उपेक्षा की है। आपके इस विचित्र चरित्र के विरुद्ध प्रश्न भी कौन उठा सकता है। (६)

तथा समाधौ परमे, त्वयात्माविनिवेशितः ।
सुखी दुःख्यस्मि नास्मीति, यथा न प्रतिपन्नवान् ॥७॥

आपने अपनी आत्मा को परम समाधि मे उस प्रकार स्थापित कर दी है कि जिससे मै सुखी हू अथवा नही ? अथवा मैं दुःखी हू अथवा नही, इसका भी आपको ध्यान न रहा, उसका ज्ञान होने की आपने तनिक भी परवाह तक नही की। (७)

ध्याता ध्येयं तथा ध्यानं, त्रयमेकात्मतां गतम् ।
इति ते योगमाहात्म्यं, कथ श्रद्धीयतां परै ? ॥८॥

ध्याता, ध्येय और ध्यान तीनो आपमे अभेद रूप मे है। इस प्रकार के आपके योग के माहात्म्य मे अन्य किस प्रकार श्रद्धा कर सकते है ? (८)

—o—

पन्द्रहवा प्रकाश

जगज्जैत्रा गुणास्त्रात -रन्ये तावत्तवासताम् ।
उदात्तशान्तया जिग्ये, मुद्रयैव जगत्त्रयी ॥१॥

हे जग-रक्षक ! जगत को जीतने वाले आपके अन्य गुण तो दूर रहे परन्तु आपकी उदात्त (पराजित न कर सकें वैसी) एव शान्त मुद्रा ने ही तीनो लोको पर विजय प्राप्त कर ली है। (१)

मेरुस्तृणीकृतो मोहात्, पयोधिर्गोष्पदीकृतः ।
गरिष्ठेभ्यो गरिष्ठो यैः, पाप्मभिस्त्वमपोहितः ।।२।।

हे नाथ ! इन्द्र आदि से भी महान् आपका जिन्होने अनादर किया है उन्होने अज्ञान से मेरु को तृण के समान समझा है और समुद्र को गाय के खुर के समान माना है। (२)

च्युतश्चिन्तामणिः पाणे –स्तेषां लब्धा सुधा सुधा ।
यैस्त्वच्छासनसर्वस्व –मज्ञानैर्नात्मसात्कृतम् ।।३।।

जिन अज्ञानियो ने आपके शासन का सर्वस्व (धन) अपने अधीन नही किया, उनके हाथ से चिन्तामणि रत्न गिर पडा है और प्राप्त हुआ अमृत व्यर्थ गया है। (३)

यस्त्वय्यपि दधौ दृष्टि –मुल्मुकाकारधारिणीम् ।
तमाशुशुक्षणिः साक्षा –दालप्यालमिद हि वा ।।४।।

हे भगवन् ! आपके लिये भी जो मनुष्य जलते उल्मुक के आकार को धारण करने वाली दृष्टि रखते हैं उन्हे साक्षात् अग्नि जला डाले अथवा ऐसा वचन नही कहना ही उत्तम है। (४)

त्वच्छासनस्य साम्य ये, मन्यन्ते शासनान्तरैः ।
विषेण तुल्य पीयूष, तेषा हन्त ! हतात्मनाम् ।।५।।

हे नाथ ! खेद की बात है कि जो आपके शासन को अन्य शासनो के समान मानते हैं उन अज्ञानियो के लिये अमृत भी विष के समान है। (५)

अनेडमूका भूयासु –स्ते येषां त्वयि मत्सर ।
शुभोदर्काय वैकल्य –मपि पापेषु कर्मसु ।।६।।

हे नाथ ! जिन्हे आपके प्रति ईर्षा है वे बहरे और गूंगे हो जायें, क्योकि पर-निन्दा का श्रवण एव उच्चारण आदि पाप-कार्यो मे इन्द्रियो की रहितता शुभ परिणाम के लिये ही है, अर्थात् कान एव जीभ के अभाव मे आपकी निन्दा का श्रवण एव उच्चारण नही कर सकने से वे दुर्गति मे नही जायेंगे, यह उन्हें भविष्य मे महान् लाभ है। (६)

तेभ्यो नमोऽञ्जलिरयं, तेषां तान्समुपास्महे ।
त्वच्छासनामृतरसै —र्यैरात्माऽसिच्यतान्वहम् ॥७॥

हे नाथ ! आपके शासन रूपी अमृत रस से जिन्होने अपनी आत्मा का सदा सिचन किया है, उन्हे हमारा नमस्कार हो। उन्हे हम दो हाथ जोडते हैं और उनकी हम उपासना करते है। (७)

भुवे तस्यै नमो यस्या, तव पादनखांशवः ।
चिरं चूडामणीयन्ते, ब्रूमहे किमतः परम् ? ॥८॥

हे नाथ ! उस भूमि को भी नमस्कार हो जहा आपके चरणो के नाखूनो की किरणे चिरकाल तक चूडामणि के समान सुशोभित होती है। इससे अधिक हम क्या कहे ? (८)

जन्मवानस्मि धन्योऽस्मि, कृतकृत्योऽस्मि यन्मुहु ।
जातोऽस्मि त्वद्गुणग्राम —रामणीयकलम्पटः ॥९॥

हे नाथ ! आपके गुण समूह की रमणीयता मे मैं बार-बार तन्मय हुआ हूँ जिससे मेरा जन्म सफल है, मैं धन्य हूँ, कृतकृत्य हूँ। (९)

—o—

सोलहवाँ प्रकाश

त्वन्मतामृतपानोत्था, इतः शमरसोर्मय ।
पराणयन्ति मां नाथ !, परमानन्दसम्पदम् ॥१॥

हे नाथ ! एक ओर आपके आगम रूपी अमृत के पान से उत्पन्न उपशम रस की तरगे मुझे बलपूर्वक मोक्ष की सम्पदा प्राप्त कराती हैं। (१)

इतश्चानादिसंस्कार —मूर्च्छितो मूर्च्छयत्यलम् ।
रागोरगविषावेगो, हताशः करवाणि किम् ? ॥२॥

तथा दूसरी ओर अनादिकालीन सस्कार से उत्पन्न राग रूपी उरग (साँप) के विप का वेग मुझे मूर्च्छित कर देता है – मोहित कर देता है। विनष्ट आशा वाला मैं अब क्या करू ? (२)

रागाहिगरलाघ्रातोऽकार्षं यत्कर्मवैशसम् ।
तद्वक्तुमप्यशक्तोऽस्मि, धिग् मे प्रच्छन्नपापताम् ।।३।।

हे नाथ ! राग रूपी साँप के विष से व्याप्त मैंने जो अयोग्य कार्य किये हैं, उनका वर्णन करने मे भी मैं समर्थ नही हूँ। अत मेरे प्रच्छन्न पापो को धिक्कार है। (३)

क्षण सक्त. क्षण मुक्त , क्षण क्रुद्धः क्षणं क्षमी ।
मोहाद्यै· क्रीडयैवाह, कारितः कपिचापलम् ।।४।।

हे प्रभु ! मैं क्षण भर सासारिक सुखो मे आसक्त हुआ हूँ तो क्षण भर उक्त सुख के विपाक का विचार करने से विरक्त हुआ हूँ; क्षण भर क्रोधी हुआ हूँ तो क्षण भर के लिये क्षमाशील हुआ हूँ। इस प्रकार की चपल क्रीडाओ से ही मोह आदि मदारियो ने मुझे बन्दर की तरह नचाया है। (४)

प्राप्यापि तव सम्बोधि, मनोवाक्कायकर्मजैः ।
दुश्चेष्टितैर्मया नाथ !, शिरसि ज्वालितोऽनल ।।५।।

हे नाथ ! आपका धर्म पाकर भी मैंने मन, वचन और काया के व्यापारो से उत्पन्न दुष्ट चेष्टाओ से सचमुच अपने मस्तक पर अग्नि जलाई है। (५)

त्वय्यपि त्रातरि त्रात -र्यन्मोहादिमलिम्लुचै ।
रत्नत्रय मे ह्रियते, हताशो हा हतोऽस्मि तत् ।।६।।

हे रक्षक ! आप रक्षक विद्यमान हैं तो भी मोह आदि चोर मेरे ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी तीन रत्नो का हरण करके जा रहे हैं, जिससे हा ! मैं हताश हो गया हूँ। (६)

भ्रान्तस्तीर्थानि दृष्टस्त्व, मयैकस्तेषु तारकः ।
तत्तवाङ्घ्रौ विलग्नोऽस्मि, नाथ ! तारय तारय ।।७।।

मैं अनेक मतो मे भटका हूँ परन्तु उन सब मे मैंने आपको ही तारणहार के रूप मे देखा है, जिससे मैं आपके चरणो से लिपट गया हूँ। अत हे नाथ ! आप कृपा करके मेरा उद्धार करो, मेरा उद्धार करो। (७)

भवत्प्रसादेनैवाह -मियतीं प्रापितो भुवम् ।
औदासीन्येन नेदानी, तव युक्तमुपेक्षितुम् ।।८।।

हे नाथ ! आपकी कृपा से ही मैं इतनी भूमिका को, आपकी सेवा की योग्यता को प्राप्त कर सका हूँ । अत अब उदासीनता से मेरी उपेक्षा करना योग्य नही है, उचित नही है । (८)

ज्ञाता तात ! त्वमेवैक -स्त्वत्तो नान्य कृपापरः ।
नान्यो मत्तः कृपापात्र -मेधि यत्कृत्यकर्मठः ।।९।।

हे तात् ! आप ही एक ज्ञाता है । आपसे अधिक अन्य कोई दयालु नही है और मुझसे अधिक अन्य कोई कृपापात्र (दया पात्र) नही है । करने योग्य कार्य मे आप कुशल है अत जो करने योग्य हो उसे आप करने के लिये तत्पर बनें । (९)

—o—

सत्रहवाँ प्रकाश

स्वकृतं दुष्कृत गर्हन्, सुकृत चानुमोदयन् ।
नाथ ! त्वच्चरणौ यामि, शरण शरणोज्झित' ।।१।।

हे नाथ ! किये गये दुष्कृतो की गर्हा एव किये गये सुकृतो की अनुमोदना करता हुआ, अन्य की शरण से रहित मैं आपके चरणो की शरण ग्रहण करता हूँ । (१)

मनोवाक्कायजे पापे, कृतानुमतिकारितैः ।
मिथ्या मे दुष्कृत भूया -दपुन क्रिययान्वितम् ।।२।।

हे भगवन् ! करने, कराने और अनुमोदना के द्वारा मन वचन काया से हुए पाप के लिए जो दुष्कृत लगा हो उसे पुन नही करने की प्रतिज्ञा से आपके प्रभाव से मेरा वह दुष्कृत मिथ्या हो । (२)

यत्कृत सुकृत किञ्चिद्, रत्नत्रितयगोचरम् ।
तत्सर्वमनुमन्येऽहं, मार्गमात्रानुसार्यपि ।।३।।

हे नाथ ! रत्नत्रयी के मार्ग का केवल अनुकरण करने वाला जो कुछ भी सुकृत मैंने किया हो उस सबकी मैं अनुमोदना करता हूँ । (३)

सर्वेषामर्हदादीना, यो योऽर्हत्त्वादिको गुरणः ।
अनुमोदयामि त त, सर्वं तेषां महात्मनाम् ॥४॥

अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओ मे जो जो आर्हन्त्य, सिद्धत्व, पचाचार के पालन मे प्रवीरणता, सूत्रो की उपदेशकता और रत्नत्रयी की साधना आदि जो जो गुरण है उन समस्त गुरणो की मैं अनुमोदना करता हूँ । (४)

त्वा त्वत्फलभूतान् सिद्धां -स्त्वच्छासनरतान्मुनीन् ।
त्वच्छासन च शररण, प्रतिपन्नोऽस्मि भावतः ॥५॥

हे भगवन् ! भाव अरिहन्त आपकी, आपके फलभूत (अरिहन्तो का फल सिद्ध है) समस्त कर्मो से मुक्त एव लोक के अग्रभाग पर स्थित सिद्ध भगवानो की, आपके शासन मे अनुरक्त मुनिवरो की और आपके शासन की शररण मैने भावपूर्वक ग्रहण की है । (५)

क्षमयामि सर्वान्सत्त्वान्सर्वे क्षाम्यन्तु ते मयि ।
मैत्र्यस्तु तेषु सर्वेषु, त्वदेकशररणस्य मे ॥६॥

हे नाथ ! समस्त प्राणियो से मैं क्षमा याचना करता हूँ, समस्त प्राणी मुझे क्षमा करे, मेरे प्रति कलुपता को त्याग कर मुझे क्षमा प्रदान करे । केवल आपके ही शररणागत मुझ मे उन सबके प्रति मैत्री, मित्रभाव, हितबुद्धि हो । (६)

एकोऽह नास्ति मे कश्चिन्, न चाहमपि कस्यचित् ।
त्वदङ्घ्रिशररणस्थस्य, मम दैन्य न किञ्चन ॥७॥

हे नाथ ! मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नही है और मैं भी किसी का नही हूँ, फिर भी आपके चरणो की शरण ग्रहण किये हुए मुझ मे तनिक भी दीनता नही है। (७)

यावन्नाप्नोमि पदवीं, परा त्वदनुभावजाम् ।
तावन्मयि शरण्यत्व, मा मुञ्चः शरण श्रिते ॥८॥

हे विश्व-वत्सल ! आपके प्रभाव से प्राप्त होने वाली उत्कृष्ट पदवी—मुक्तिपद मुझे प्राप्त न हो, तव तक शररणागत मेरे, आप पालक वने रहे, पालकता का त्याग नही करें। (८)

—०—

न परं नाम मृद्वेव, कठोरमपि किञ्चन ।
विशेषज्ञाय विज्ञप्यं, स्वामिने स्वान्तशुद्धये ॥१॥

केवल सुकोमल वचनो से ही नही, किन्तु विशेषज्ञ–हितकारी स्वामी को अन्त करण की शुद्धि के लिए कुछ कठोर वचनो से भी विनती करनी चाहिये । (१)

न पक्षिपशुसिंहादि –वाहनासीनविग्रहः ।
न नेत्रगात्रवक्त्रादि –विकारविकृताकृतिः ॥२॥

हे स्वामिन् ! लौकिक देवो की तरह आपका शरीर हस, गरुड आदि पक्षियो, छाग, वृषभ, सिंह, व्याघ्र आदि पशुओ के वाहन पर आरूढ नही है, तथा आपकी आकृति भी उन देवो की तरह नेत्र, गात्र (शरीर) और मु ह आदि के विकारो से विकृत नही है । (२)

न शूलचापचक्रादि –शस्त्राङ्ककरपल्लवः ।
नाङ्गनाकमनीयाङ्ग –परिष्वङ्गपरायणः ॥३॥

हे नाथ ! आप अन्य देवो की तरह कर-पल्लव त्रिशूल, धनुष एव चक्र आदि शस्त्रो से चिन्हित नही हुए है, तथा आपकी उत्सग (गोद) स्त्रियो के मनोहर अग का आलिगन करने मे तत्पर नही हुई है । (३)

न गर्हणीयचरित –प्रकम्पितमहाजन. ।
न प्रकोपप्रसादादि –विडम्बितनरामरः ॥४॥

हे नाथ ! अन्य देवो की तरह निन्दनीय चरित्र से आपने महाजनो (उत्तम पुरुषो) को प्रकम्पित नही किया, तथा प्रकोप एव प्रसाद (कृपा) के द्वारा आपने देवताओ और मनुष्यो को विडम्बना मे नही डाला। (४)

न जगज्जननस्थेम –विनाशविहितादर. ।
न लास्यहास्यगीतादि –विप्लोवप्लुतस्थितिः ॥५॥

हे नाथ ! अन्य देवो की तरह जगत् को उत्पन्न करने मे, स्थिर करने मे अथवा विनाश करने मे आपने आदर नही बताया तथा नटो के उचित नृत्य, हास्य और गीत आदि चेष्टाओ के द्वारा आपने अपनी स्थिति को उपद्रवयुक्त नही किया । (५)

तदेव सर्वदेवेभ्य, सर्वथा त्व विलक्षणः ।
देवत्वेन प्रतिष्ठाप्य, कथ नाम परीक्षकैः ? ।।६।।

इस कारण भगवन् ! आप समस्त देवो मे समस्त प्रकार से विलक्षण है, अत परीक्षकगण आपको देव के रूप में कैसे प्रतिष्ठित करे ? (६)

अनुस्रोत· सरत्पर्ण –तृणकाष्ठादियुक्तिमत् ।
प्रतिस्रोत श्रयद्वस्तु, कया युक्त्या प्रतीयताम् ।।७।।

हे नाथ ! पत्ते, तृण (घास) और काष्ठ आदि वस्तु पानी के प्रवाह के अनुकूल चले यह बात युक्ति-सगत है, परन्तु वे प्रवाह के प्रतिकूल चलें यह बात किस युक्ति से निश्चित की जाये ? (७)

अथवाऽल मन्दबुद्धि –परीक्षकपरीक्षणैः ।
ममापि कृतमेतेन, वैयत्येन जगत्प्रभो ? ।।८।।

अथवा हे जगत्-प्रभु ! मन्द बुद्धि-युक्त परीक्षको की परीक्षाओ से मुक्ति हुई तथा मुझे इस प्रकार की परीक्षा करने के हठाग्रह से मुक्ति हुई । (८)

यदेव सर्वससारि –जन्तुरूपविलक्षणम् ।
परीक्षन्ता कृतधियस्तदेव तव लक्षणम् ।।९।।

हे स्वामिन् ! समस्त ससारी जीवो के स्वरूप से जो कोई विलक्षण स्वरूप इस विश्व मे प्रतीत हो, वही आपका लक्षण है । इस प्रकार बुद्धिमान पुरुष परीक्षा करें । (९)

क्रोधलोभभयाक्रान्त, जगदस्माद्विलक्षणः ।
न गोचरो मृदुधिया, वीतराग ! कथञ्चन ।।१०।।

हे वीतराग ! यह जगत् क्रोध और भय से आक्रान्त है, व्याप्त है, जबकि आप क्रोध आदि से रहित होने के कारण विलक्षण हैं । अत मृदु (मन्द) बुद्धि वाले बहिर्मुख पुरुषो को आप किसी भी प्रकार से गोचर (प्रत्यक्ष) नही हो सकते । (१०)

—०—

उन्नीसवाँ प्रकाश

तव चेतसि वर्तेऽह –मिति वार्त्तापि दुर्लभा ।
मच्चित्ते वर्त्तसे चेत्त्व –मलमन्येन केनचित् ।।१।।

हे नाथ ! लोकोत्तर चरित्रवाले आपके चित्त मे मैं रहूँ यह तो असम्भव है परन्तु आपका मेरे चित्त मे रहना सम्भव है, और यदि ऐसा हो जाये तो मुझे कोई अन्य मनोरथ करने की आवश्यकता ही नही रहेगी। (१)

निगृह्य कोपतः कांश्चित्, कांश्चित्तुष्ट्याऽनुगृह्य च।
प्रतार्यन्ते मृदुधियः, प्रलम्भनपरैः परैः ॥२॥

हे नाथ ! ठगने मे तत्पर अन्य देव कुछ मन्द बुद्धिवालो को कोप से—शाप आदि देकर और कुछ को प्रसाद से–वरदान आदि देकर ठगते है, परन्तु आप जिनके चित्त मे हो वे मनुष्य ऐसे कुदेवो के द्वारा ठगे नही जाते। अत आप मेरे चित्त मे रहे तो मैं कृतकृत्य ही हूँ। (२)

अप्रसन्नात्कथं प्राप्यं, फलमेतदसङ्गतम् ?।
चिन्तामण्यादयः किं न, फलन्त्यपि विचेतनाः ? ॥३॥

हे नाथ ! कदापि प्रसन्न नही होने वाले आपसे फल कैसे प्राप्त किया जाये यह कहना असगत है, क्योकि चिन्तामणि रत्न आदि विशिष्ट चेतना रहित हैं फिर भी क्या वे फल प्रदान नही करते ? अवश्य करते हैं।

(विशिष्ट चेतना रहित चिन्तामणि आदि स्वय किसी पर प्रसन्न नही होते, फिर भी विधिपूर्वक उनकी आराधना करने वाले को फल प्राप्त होता है। उसी तरह से वीतराग परमात्मा की विधिपूर्वक आराधना करने वाले को फल अवश्य प्राप्त होता है। (३)

वीतराग ! सपर्यातस्तवाज्ञापालनं[1] परम्।
आज्ञाऽऽराद्धा विराद्धा च, शिवाय च भवाय च ॥४॥

हे वीतराग ! आपकी पूजा की अपेक्षा भी आपकी आज्ञा का पालन श्रेष्ठ है, क्योकि आराधक आज्ञा मोक्ष के लिए होती है और विराधक आज्ञा ससार के लिए होती है। (४)

आकालमियमाज्ञा ते, हेयोपादेयगोचरा:।
आस्रवः सर्वथा हेय, उपादेयश्च संवरः ॥५॥

---

1 सपर्यायास्तवाज्ञापालन

आपकी यह आज्ञा सदा हेय-उपादेय के विषय मे है, और वह यह है कि आस्रव समस्त प्रकार से हेय (त्याग करने योग्य) है और सवर समस्त प्रकार से उपादेय (अगीकार करने) योग्य करने है। (५)

आस्रवो भवहेतु स्यात्, सवरो मोक्षकारणम् ।
इतीयमार्हती मुष्टि – रन्यदस्या' प्रपञ्चनम् ॥६॥

आस्रव भय का कारण है और सवर मोक्ष का कारण है। श्री अरिहन्त देवो के उपदेश का यह सक्षिप्त रहस्य है। अन्य समस्त उसका विस्तार है। (६)

इत्याज्ञाराधनपरा, अनन्ता परिनिर्वृत्ता' ।
निर्वान्ति चान्ये क्वचन, निर्वास्यन्ति तथा परे ॥७॥

इस प्रकार की आज्ञा के आराधक अनन्त आत्माओ ने निर्वाण प्राप्त किया है, अन्य कुछ कही प्राप्त करते हैं और अन्य अनन्त भविष्य मे निर्वाण पद प्राप्त करेंगे। (७)

हित्वा प्रसादनाद्दैन्य – मेकयैव त्वदाज्ञया ।
सर्वथैव विमुच्यन्ते, जन्मिन कर्मपञ्जरात् ॥८॥

हे विश्वेश! जगत् मे ऐसा कहा जाता है कि यदि स्वामी की प्रसन्नता हो तो फल की प्राप्ति होती है परन्तु यह बात चिन्तामणि के दृष्टान्त से असगत है—इसी प्रकाश के द्वितीय श्लोक मे यह सिद्ध करके बताया गया है। अत दीनता का त्याग करके निष्कपट भाव से आपकी आज्ञा की आराधना करके भव्य प्राणी कर्म रूपी पिंजरे से सर्वथा मुक्त होते हैं। इस कारण आपकी आज्ञा की आराधना करना ही मुक्ति का एक श्रेष्ठ उपाय है। (८)

—०—

वीसवाँ प्रकाश

पादपीठलुठन्मूर्ध्नि, मयि पादरजस्तव ।
चिर निवसतां पुण्य – परमाणुकणोपमम् ॥१॥

आपके पादपीठ मे शीश नमाते समय मेरे ललाट पर पुण्य-परमाणु-कणो के समान आपकी चरण-रज चिरकाल रहे। (१)

मद्दृशौ त्वन्मुखासक्ते, हर्षवाष्पजलोर्मिभि ।
अप्रेक्ष्यप्रेक्षणोद्भूत, क्षणात्क्षालयतां मलम् ।।२।।

आपके मुख के प्रति आसक्त मेरे नेत्र पहले अप्रेक्ष्य वस्तुओ को देखने से उत्पन्न पाप-मल को पल भर मे हर्षाश्रुओ के जल की तरगो से धो डाले । (२)

त्वत्पुरो लुठनैर्भूयान्, मद्भालस्य तपस्विन ।
कृतासेव्यप्रणामस्य, प्रायश्चित्त किणावलि ।।३।।

हे प्रभु । उपासना के लिए अयोग्य अन्य देवो को प्रणाम करने वाली और तीनो लोको द्वारा सेव्य आपकी उपासना से वचित रहने से करुणा-स्पद बनी मेरी इस ललाट को आपके समक्ष नमाने से उस पर लगी हुई क्षत की श्रेणी ही प्रायश्चित्त स्वरूप हो। (३)

मम त्वद्दर्शनोद्भूताश्चिर रोमाञ्चकण्टका: ।
नुदन्तां चिरकालोत्था –मसद्दर्शनवासनाम् ।।४।।

हे निर्मम-शिरोमणि ! आपके दर्शन से मुझ में चिरकाल तक उत्पन्न रोमाच रूपी कण्टक दीर्घ काल से उत्पन्न कुशासन की दुर्वासना का अत्यन्त नाश करे । (४)

त्वद्वक्त्रकान्तिज्योत्स्नासु, निपीतासु सुधास्विव ।
मदीयैर्लोचनाम्भोजै:, प्राप्यता निर्निमेषता ।।५।।

हे नाथ ! अमृत तुल्य आपके मुँह की कान्ति रूपी ज्योत्स्ना का पान करते हुए मेरे नेत्र रूपी कमल निर्निमेष रहे। (५)

त्वदास्यलासिनी नेत्रे, त्वदुपास्तिकरौ करौ ।
त्वद्गुणश्रोतृणी श्रोत्रे, भूयास्तां सर्वदा मम ।।६।।

हे नाथ ! मेरे दोनो नेत्र आपका मुँह देखने मे सदा लालायित रहे, मेरे दोनो हाथ आपकी पूजा करने मे सदा तत्पर रहे और मेरे दोनो कान आपके गुणो का श्रवण करने के लिये सदा उद्यत रहे । (६)

कुण्ठापि यदि सोत्कण्ठा, त्वद्गुणग्रहणं प्रति ।
ममैषा भारती तर्हि, स्वस्त्यै तस्यै किमन्यया ।।७।।

हे प्रभु ! मेरी यह कुण्ठित वाणी आपके गुण ग्रहण करने के लिये उत्कठित हो तो उसका कल्याण हो। इसके अतिरिक्त अन्य वाणी से क्या होगा ? (७)

तव प्रेष्योऽस्मि दासोऽस्मि, सेवकोऽस्म्यस्मि किङ्करः ।
ओमिति प्रतिपद्यस्व, नाथ ! नात पर ब्रुवे ।।८।।

हे नाथ ! मैं आपका प्रेष्य हूँ, दास हूँ, सेवक हूँ और किकर हूँ। अत "यह मेरा है" इस भाव से आप मुझे स्वीकार करे। इससे अधिक मैं कुछ भी नही कहता। (८)

श्री हेमचन्द्रप्रभवाद् - वीतरागस्तवादितः ।
कुमारपाल - भूपालः, प्राप्नोतु फलमीप्सितम् ।।९।।

श्री हेमचन्द्र सूरीश्वर द्वारा रचित इस श्री वीतराग स्तोत्र से श्री कुमारपाल भूपाल मुक्ति (कर्मक्षय) रूपी अभीप्सित फल प्राप्त करें। (९)

—o—

श्री जिनगुण स्तवन की महिमा

गगन तणु जेम नहि मान ।
तेम अनन्त फल जिन गुण गान ।।

—श्री सकलचंद्रजी उपाध्याय

(१)

वक्तृत्व एव कवित्व शक्ति—

स्तुति, स्तवन, प्रशसा, वर्णवाद आदि एक ही अर्थ व्यक्त करने वाले शब्द है। स्तुति अथवा स्तवन, प्रशसा अथवा वर्णवाद, व्यक्त-शब्दोच्चार के द्वारा हो सकता है। ससार मे ऐसे अनन्त प्राणी है कि जिनमे व्यक्त-शब्दोच्चारण की शक्ति ही नही है। समस्त एकेन्द्रिय प्राणी इस शक्ति से रहित है तथा जीभ वाले दो इन्द्रिय आदि समस्त प्राणी भी वर्णवाद के योग्य व्यक्त-शब्दोच्चार करने की शक्तियुक्त नही होते। सज्ञी पचेन्द्रिय प्राप्त देवो तथा मनुष्यो को ही अनादि ससार मे परिभ्रमण करने से क्वचित् यह शक्ति प्राप्त होती है। इनके अतिरिक्त प्राणी तो स्वकर्म परिणाम से आवृत्त है।

प्रवल ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से विशिष्ट चित् शक्ति-चैतन्य से शून्य होते है। अत. उनमे कवित्व अथवा वक्तृत्व सुलभ वाचा नही होती और जव तक वह वाचा (वाणी) प्राप्त न हो तव तक किसी योग्य का गुण-गान नही हो सकता। इस प्रकार की वाणी प्राप्त होने पर भी अधिकतर देव एव मनुष्य अपनी भवाभिनन्दिता के योग से अन्यो का अर्थात् गुणगान करने के लिये अयोग्य देव एव मनुष्यो आदि के अवगुणो का कीर्तन करने के लिये ही प्रयत्नशील होते है और इस प्रकार से विशिष्ट शक्ति प्राप्त करके भी स्व आत्मा को मलिन करने मे ही प्रवृत्त होते हैं। कुछ ही भव-भीरू महापुरुष इस प्रकार की वक्तृत्व एव कवित्व शक्ति प्राप्त करने के पश्चात् स्तुति एव स्तवन करने योग्य गुणवान देव-गुरु आदि की स्तुति

करने मे प्रयत्नशील होते हैं और उस कार्य के द्वारा वे अपनी आत्मा को कर्म-मल से मुक्त करते हैं।

गुण-वर्णन की आवश्यकता—

गुणवान अथवा अधिक गुणो वाली आत्माओ के अद्भूत गुणो का समुत्कीर्तन करना ही वाणी (सरस्वती) प्राप्ति करने का सच्चा फल है। जो स्तुति करने योग्य होते हैं उनकी स्तुति करने का अवसर जीव को इस भव-वन मे किसी समय ही प्राप्त होता है। शक्ति के अभाव मे अधिकतर समय तो योग्य पुरुष की स्तुति किये बिना ही व्यतीत होता है और शक्ति प्राप्त होने पर अयोग्य की स्तुति करने मे वह शक्ति नष्ट हो जाती है। ऐसी दशा मे योग्य की स्तुति करने का अवसर प्राप्त होना अत्यन्त ही कठिन होता है। यह तत्त्व समझने वाले तत्त्वज्ञ महापुरुषो को इस प्रकार की शक्ति प्राप्त हो जाये तब वे स्तवन करने योग्य महापुरुषो को स्तवना करने मे तनिक भी कमी नही रखते। इस बात का परिचय आज पूर्वाचार्यों द्वारा रचित असख्य स्तोत्र, स्तवन एव स्तुति हमे प्रत्यक्ष रूप से कराती हैं। महा-पुरुषो को प्राप्त वक्तृत्व शक्ति एव कवित्व शक्ति का उपयोग श्री जिनेश्वर भगवान के गुण-गान करने के लिए मुक्त रूप से हुआ है। यद्यपि वे इस प्रकार से भी जिनेश्वर देव के एक भी गुण का पूर्णत उत्कीर्तन करने मे समथ नही हुए है--यह वात वे स्वय स्वीकार करते है और उसका कारण भी स्पष्ट ही है, परन्तु सच्चे गुण का वाणी से पूर्णत वर्णन करना असभव है। वाणी तो केवल दिशा-निर्देश कर सकती है। अत पहचान तो उक्त दिशा निर्देश से होने वाले आत्मानुभव पर आधार रखती है।

विशुद्ध श्रद्धा एव भक्ति—

किसी भी गुण की सच्ची महिमा वाणी के द्वारा व्यक्त नही की जा सकती, किन्तु मन के द्वारा प्रकट की जा सकती है। अत एक महापुरुष का कथन है कि—"सत्यगुण के कथन मे कदापि अतिशयोक्ति हो ही नही सकती, सदा अल्पोक्ति ही रहती है।" इस सत्य को परमार्थदर्शी पूर्व आचार्य प्रवर यथार्थ रूप से समझते थे। इस कारण श्री जिन गुण स्तवन मे उन्होने वाणी की अविरल वृष्टि की तदपि यह अविरल प्रवाह उनके एक भी सद्भूत गुण का तनिक भी वर्णन नही कर सका, इस सत्य को उन्होने स्वीकार किया है। किसी ने बाल-चपलता करने की वात कही है तो किसी ने दोनो भुजाएँ फैला कर समुद्र की विशालता का वर्णन करने जैसी चेष्टा करने की वात कही है।

इस प्रकार समस्त स्तुतिकारो ने अपनी उस विषय की असमर्थता को नि सकोच भाव से प्रदर्शित करते हुए कहा है कि—"हममे सामर्थ्य नही होते हुए भी हम श्री जिन-गुण गाने के लिए उद्यत हुए है, उसका कारण केवल हमारी श्रद्धा एव श्री जिन-गुणो के प्रति हमारी भक्ति ही है। परमात्म-गुणो की भक्ति हमे सभव-असभव के विचार-चातुर्य से रहित करती है, क्योकि हम जानते है कि श्रद्धा एव भक्ति से बोले हुए उल्टे-सीधे अथवा असम्बद्ध वचन भी बालालाप की तरह श्रोताओ मे अरुचि नही परन्तु विस्मय एव कौतुक उत्पन्न किये बिना नही रहते।" निर्मल बुद्धि वाले सज्जन पुरुष ऐसी असमजस पूर्ण चेष्टा की हँसी नही उडाते, परन्तु वैसा करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं, क्योकि वे निर्मल मतिवाले महापुरुष समझते है कि स्तुति कोई गुणो की यथार्थ प्रदर्शक नही है, परन्तु स्तुति करने वाली आत्मा मे उक्त गुण के प्रति जो विशुद्ध श्रद्धा एव भक्ति निहित है, उसकी ही केवल प्रदर्शक है।

समस्त स्तवन योग्य महापुरुषों के स्तवन का अन्तर्भाव—

जिसके गुणो के प्रति जिसे श्रद्धा एव भक्ति है, उसके गुणो का कीर्तन करने के लिये जगत् मे कौन प्रवृत्त नही होता ? अवाग् एव अबूझ प्राणी भी अपने पालको और पोपको के गुण-गान करने के लिए अपने अगोपागो के द्वारा विविध प्रकार की चेष्टा करते दृष्टिगोचर होते है, तो फिर विशुद्ध वाणी एव विशुद्ध चैतन्य युक्त आत्मा अपने उपकारियो के गुणो का वर्णन करने के लिए अपनी देह एव वाणी के द्वारा समस्त सभव प्रयत्न करे तो उसमे आश्चर्य ही क्या है ?

श्री जिन-गुण-स्तवन के प्रति श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति भी स्वरुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न मनुष्यो और पशुओ तक का गुण-गान करने मे क्या कमी रखते हैं ? यदि सोचा जाय तो इस जगत् मे सर्वत्र प्रशसा का साम्राज्य छाया हुआ है। अपने स्वय के प्रशसक की प्रशसा करना वर्तमान समय मे शिष्टाचार का एक प्रमुख अग माना जाता है तथा यदि प्रशसक की प्रशसा न की जाये तो उसे शिष्टाचार भग करने वाला घोपित किया जाता है। इसी प्रकार से जिस व्यक्ति की प्रशसा जन-समुदाय का अधिकतर वर्ग करता हो अथवा जो व्यक्ति अपने पुण्य-बल से विशाल जन-समुदाय पर सत्ता जमाया हुआ हो, उसकी भी प्रशसा करनी चाहिये, यह जगत द्वारा स्वीकृत है। यदि ऐसा नही किया जाये तो उसे लोगो का अथवा सत्ता का अपराधी

तीनो लोको को सनाथ करने वाले एव कृपारस-सिन्धु हे तीर्थपति ! जिस प्रकार सम-भूतला भूमि से पाच सौ योजन से दूर नन्दन-वन आदि तीन वनो से मेरु पर्वत सुशोभित है, उसी प्रकार से जन्म से ही आप मति आदि तीन ज्ञानो से सुशोभित है। हे विश्व-भूषण ! आप जिस क्षेत्र मे जन्म धारण करते हैं, वह क्षेत्र तीन भवनो के मुकुट तुल्य आपके द्वारा अलकृत होने से देव-भूमि से भी उत्तम बन जाता है। आपके जन्म-कल्याणक के महोत्सव से पावन बना दिन भी सदा आप ही के समान वन्दनीय हो जाता है। आपके जन्म आदि के दिनो मे नितान्त दु खी नरक के जीव भी सुख की अनुभूति करते है। भला अरिहन्तो का उदय किसका सन्ताप-नाशक नही होता ? आपके चरणो का अवलम्बन पाकर अनेक आत्मा इस भयानक भव-सागर को पार कर लेते है। क्या जहाज का आधार पाया हुआ लोहा भी सागर को पार नही कर पाता ? हे भगवन् ! आप मनुष्य लोक में लोगो के पुण्य से अवतीर्ण होते है। वृक्ष विहीन वन मे कल्पवृक्ष की तरह और जल विहीन मरुस्थल मे नदी के प्रवाह (धारा) के समान आपका जन्म लोगो को अत्यन्त इष्ट होता है।

त्रिलोक रूपी कमल को विकसित करने के लिये भास्कर तुल्य एव ससार रूपी मरुस्थल मे कल्पतरु तुल्य हे जगन्नाथ ! वह मुहूर्त भी धन्य है जिस मुहूर्त मे पुनर्जन्म धारण नही करने वाले आपका विश्व के प्राणियो के दु खोच्छेदनार्थ जन्म होता है। उन मनुष्यो को भी धन्य है कि जो अहर्निश आपके दर्शन करते हैं। हे भव-तारणहार ! आपकी उपमा देने के लिये अन्य कोई वस्तु ही नही है। आपके समान आप हो हैं, इतना ही कह कर हम रुक जाते हैं। आपके सद्भूत गुणो के विषय मे कुछ कहने में भी हम समर्थ नही है, इसमे तनिक भी आश्चर्य नही है। स्वयभूरमण समुद्र के अगाध जल की थाह लेने मे भला कौन समर्थ है ?

हे भगवन् ! आपके यथास्थित गुणो का वर्णन करने मे हम असमर्थ है तो भी आपके प्रभाव से हमारी बुद्धि का अवश्य विस्तार होगा। हे स्वामी ! त्रस तथा स्थावर दोनो प्रकार के जन्तुओ की हिंसा के परिहार से आप अभयदान की एक दानशाला के समान है। आप मृषावाद के सर्वथा परित्याग से प्रिय, पथ्य एव तथ्य वचन रूपी अमृत-रस के सागर हैं। हे जगत्-पति ! निरुद्ध मोक्ष मार्ग के द्वार को अदत्तादान के प्रत्याख्यान से खोलने वाले आप एक समर्थ द्वारपाल है। हे भगवन् ! अखण्ड ब्रह्मचर्य

रूपी महा तेज का विस्तार करने के लिये तथा मन्मथ रूपी अधकार का मथन करने के लिये आप एक प्रचण्ड सूर्य हैं।

हे नाथ ! पृथिवी आदि समस्त परिग्रह का एक साथ पलाल-पुञ्ज की तरह परित्याग करने वाले आप त्याग-मूर्ति है। पच महाव्रत रूपी व्रत का बोझा वहन करने के लिये वृषभ तुल्य एव भव-सिन्धु को पार करने के लिये जहाज तुल्य आपको हमारा पुन:-पुन नमस्कार हो, पाँच महाव्रतो की सहोदरबहनो के समान पाँच समितियो के धारक आपको पुन -पुन नमस्कार हो और आत्मारामैकमन से युक्त, वचन गुप्ति के धारक एव समस्त चेष्टाओ से निवृत्त आपको पुन पुन नमस्कार हो।

हे अखिल विश्व के नाथ ! अखिल विश्व को अभय प्रदान करने वाले ! ससार-सागर-समुत्तारण ! प्रात काल मे आपके दर्शन से हमारे समस्त पाप नष्ट होते है। हे नाथ ! भव्य जीवो के मन रूपी जल को निर्मल करने के लिये कतक चूर्ण के समान आपकी वाणी का जय जयकार होता है। हे करुणा-क्षीर-सागर ! आपके शासन रूपी महारथ पर आरोहण करने वालो को दूरस्थ लोकाग्र भी समीप प्रतीत होता है। हे देव ! आप निष्कारण जगबधु का मैं साक्षात् दर्शन करता हूँ, वह लोक लोकाग्र की अपेक्षा भी मेरे मन मे उत्तम है।

हे स्वामी ! आपके दर्शन रूपी महानद के रस से परिपूर्ण नेत्रो के द्वारा ससार में भी मैं मोक्ष-सुख के आस्वादन का अनुभव करता हूँ। राग-द्वेष एव कषाय रूपी भयानक शत्रुओ से पीडित जगत् भी हे नाथ ! आप अभय देने वाले की कृपा से ही निर्भय है। तत्त्व को आप स्वय ही बताते हैं, आप ही मार्ग भी बताते है तथा विश्व की आप ही रक्षा करते हैं, तो फिर मेरे लिये मागने का कुछ रहता ही नही है। हे भगवन् ! आपकी पर्षदा मे परस्पर युद्ध करने वाले शत्रुराज भी मित्र बन कर रहते हैं। हे देव ! आपकी पर्षदा मे शाश्वत वैर रखने वाले अन्य जीव भी आपके असीम प्रभाव से अपनी स्वाभाविक शत्रुता को भुला कर मैत्री धारण करते हैं।

(२)

वाणी का सच्चा फल—

गुणवान के गुणो का उत्कीर्तन करना प्राप्त वाणी का सच्चा फल है। वाणी प्राप्त होने पर उसका कुछ न कुछ उपयोग होता ही रहता है।

मानव-देह में प्राप्त, बोलने एव सोचने की शक्ति का प्रवाह नित्य होता ही रहता है। जिस प्रकार मन को नियत्रण मे रखना कठिन है, उसी प्रकार से प्राप्त वाणी को भी सर्वथा रोक देना, अमुक अवस्था तक नही पहुँचे मनुष्यो के लिये असभव है। वाणी का कुछ न कुछ उपयोग तो होता ही है, तो फिर उसका सर्वोत्तम उपयोग क्या हो सकता है, उसे खोजना अनिवार्य हो जाता है।

क्या नाम लेने से अथवा गुण गाने से कार्य-सिद्धि सभव है ?—

कुछ मनुष्य कहते हैं कि श्री जिन का नाम लेने से अथवा गुण-गाने से कार्य-सिद्धि हो जाती हो तो अन्न अथवा धन का नाम लेने से अथवा गुण गाने से अन्न अथवा धन की प्राप्ति हो जानी चाहिए। नाम लेना अथवा गुण गाना तो केवल औपचारिक भक्ति है। सच्ची भक्ति तो उस नाम और गुण वाले के गुणो को प्राप्त करने का उद्यम ही है। जो व्यक्ति धन अथवा अन्न प्राप्त करने के लिये उद्यम नही करते, उन्हे उनके नाम का जाप अथवा गुणो का स्तवन क्या लाभ करता है ? नाम-स्मरण नही करने वाला अथवा वाणी के द्वारा गुणो का लम्बा उत्कीर्तन नही करने वाला व्यक्ति भी यदि उनकी प्राप्ति के लिये उचित उद्यम करे तो उसे उस वस्तु की प्राप्ति होगी ही। इस प्रकार नाम-स्मरण अथवा गुणोत्कीर्तन का कोई विशेष फल नही है, यह निश्चय करके जो लोग उसकी उपेक्षा करते है, वे वस्तु का एक पक्ष ही ग्रहण करते है और कार्य-सिद्धि करने वाले अन्य उपयोगी पक्षो का एकान्तवादी बन कर त्याग करते हैं।

उद्यम एवं आज्ञा-पालन के लिये प्रेरक तत्त्व—

उद्यम अथवा आज्ञा-पालन के बिना कार्य-सिद्धि असभव है, तो भी उक्त उद्यम की ओर आत्मा को प्रेरित करने वाली प्रथम वस्तु कौनसी है, इस पर चिन्तन करना शेष रहता है। जिसका नाम किसी को ज्ञात नही है और जिसके गुणो के प्रति जिसे अनुराग नही है, उस वस्तु की प्राप्ति के लिये कभी उद्यम हुआ हो यह किसी ने कभी नही देखा। जहाँ जिस वस्तु की प्राप्ति के लिये उद्यम होता है वहाँ उस वस्तु के नाम का और गुणो का परिचय होता है।

श्री जिन की आज्ञा के पालन के लिये उद्यमशील होने की अभिलाषा उनके गुणो के ज्ञान एव गान के बिना वन्ध्या रहने के लिये ही सर्जित है।

श्री जिन के गुण-गान मे थकान प्रदर्शित करने वाले पुरुष उनकी आज्ञा-पालन का दावा करते हो तो वह प्राय दम्भ स्वरूप ही सिद्ध होगा। प्राय कहने का तात्पर्य यह है कि सयोग के अभाव मे गुणोत्कीर्तन के बिना भी क्वचित् आज्ञा-पालन हो सकता है, परन्तु आज्ञा-पालक एव आज्ञा-पालन अभिलाषी व्यक्ति, सयोग एव शक्ति होते हुए भी श्री जिन का गुणोत्कीर्तन करने वाला न हो, यह असभव है।

जाप एव कीर्तन की आवश्यकता—

धन अथवा अन्न का जीव को अनादिकालीन परिचय है। [illegible] नाम उसके होठो पर और उनके गुण उसके हृदय मे गुथे [illegible] वह यदि भूलना चाहे तो भी धन एव अन्न के गुण, [illegible] भूल नही सकता। इस दशा मे उसे अन्न अथवा धन का [illegible] की आवश्यकता नही होती अथवा उनकी स्तुति करने [illegible] निकालने की भी आवश्यकता नही होती। श्री जिन [illegible] लिये जीव की ऐसी दशा नही है। श्री जिन के गुणों [illegible] कदापि हुआ ही नही है और यदि हुआ हो तो [illegible] प्रमाण यही है कि आज स्मरण कराने पर भी [illegible]

श्री जिन के अपार एव अनन्त गुण [illegible] होने वाला आत्मा को अपूर्व लाभ, उनमे होने [illegible] अव्याबाध सुख की प्राप्ति आदि की ओर [illegible] है। चित्त उनकी ओर लगाने के लिये, [illegible] के लिये और उन गुणो की स्मृति [illegible] गुणो का बार बार जाप एव कीर्तन [illegible] एव गुणो के सतत् जाप, [illegible] गुणो का परिचय किया जा [illegible]

वे दोनो से भ्रष्ट हो जाते हैं—

आज्ञा-पालन आदि अन्य साधनों की भी आवश्यकता होती ही है, तो भी इन सब मे प्राथमिक उपाय के रूप मे जाप एव स्तवन का प्रमुख भाग रहता है। जाप के बिना ध्यान नहीं होता और स्तवन के बिना आज्ञारा-धना का उतना उल्लास जागृत नही होता।

श्री जिन की यथास्थित आज्ञा की आराधना यथाख्यात् चारित्र का पालन है। यह दशा प्राप्त करने के लिए श्री जिन-गुण-स्तवन भी एक परम आवश्यक साधन है। यथाख्यात् चारित्र तक पहुँचे हुए पुरुष श्री जिन-गुण का स्तवन न करे तो चल सकता है, परन्तु उस स्थिति तक पहुँचने से पूर्व ही आज्ञाराधना के नाम पर श्री जिन-गुण-स्तवन आदि का अवलम्बन त्याग देने का वाद करे वे दोनो से भ्रष्ट हो जाते है।

आत्म-गुण-प्राप्ति में प्रधान निमित्त—

अथवा श्री जिन-गुण की स्तुति करना भी एक प्रकार से श्री जिनाज्ञा का पालन और आराधन है। "जिस प्रकार अन्न एव धन की स्तुति करने से अन्न एव धन प्राप्त नही होता, उसी प्रकार से श्री जिन-गुण का स्तवन करने मात्र से उनकी प्राप्ति नही होती"–यह कहने मे दृष्टान्त-वैषम्य है। अन्न एव धन आत्म-बाह्य पदार्थ है। आत्म-बाह्य पदार्थों की प्राप्ति केवल स्मरण, स्तवन अथवा ध्यान से नही हो सकती, परन्तु उसके लिए बाह्य प्रयत्नो की भी आवश्यकता होती है, जबकि आत्म-गुणो की प्राप्ति के लिए बाह्य प्रयत्नो की प्रधानता नही होती, किन्तु स्तवन आदि आन्तरिक प्रयत्नो की ही प्रधानता होती है। इसके लिए जिन-गुण स्तवन आत्म-गुणो की प्राप्ति मे प्रधान कारण है। इस कारण पूर्व महर्षियो ने इस अग को भी अन्य अगो की तरह विशेष रूप से अपनाया है।

श्री जिनेश्वरों की स्तुति—

श्री जिन-गुण-महिमा प्रदर्शित करने के लिये और श्री जिनेश्वर देवो के जगत् के जीवो पर असीम उपकार करने के लिये असाधारण वाक्-शक्ति का प्रवाह बहाने वाले पूर्व महर्षियो का कथन है कि—"जिस प्रकार घडो के द्वारा समुद्र के जल का माप निकालना असम्भव है, उसी प्रकार हम जैसे जड बुद्धि वाले लाखो पुरुषो के द्वारा गुणो के सागर भगवान् श्री जिनेश्वर देवो के गुणो की थाह लेना भी असम्भव है, फिर भी हम भक्ति से निरकुश बने हुए अपनी शक्ति अथवा योग्यता का तनिक भी विचार

किये विना ही त्रिलोकीनाथ श्री तीर्थंकर देवो के गुणो का उत्कीर्तन करने के लिये उत्साहित होते है।"

उन महर्षियो का कथन है कि–"भगवान के गुणो के प्रभाव से हमारी मन्द वुद्धि भी प्रभावशाली हो जाती है। गुणो रूपी पर्वत के दर्शन से भक्ति के वशीभूत वने एव वुद्धिहीन हम नवीन-नवीन वाणी को प्राप्त करते है।"

योगी-पुङ्गवो के द्वारा भी अमूल्य श्री जिनेश्वर देवो का गुण-गान करने के लिये तत्पर वने महर्षि अपनी वाल चेष्टा वता कर प्रभु के गुण-गान मे अग्रसर होकर कहते है कि —"हे भगवन्! आपको नमस्कार करने वाले तपस्या करने वालो से भी आगे वढ जाते है और आपकी सेवा करने वाले योगियो से भी अधिक है। धन्य पुरुषो को ही, नमस्कार करते समय आपके चरणो के नाखूनो की कान्ति मस्तक के मुकुट की शोभा धारण करती है। किसी से भी साम, दाम, दण्ड अथवा भेद कुछ भी ग्रहण किये विना ही आप त्रैलोक्य-चक्रवर्त्ती वने हैं, यह सचमुच आश्चर्य है। जिस प्रकार चन्द्रमा समस्त जलाशयो के जल मे समान व्यवहार करता है, उसी प्रकार से हे स्वामी! आप भी जगत् के समस्त जीवो के चित्त मे समान रूप से निवास करते हैं। हे देव! आपको स्तुति करने वाले सवके लिये स्तुत्य वन जाते हैं, आपकी अर्चना करने वाले सवके द्वारा अर्चना किये जाने के योग्य हो जाते है तथा आपको नमस्कार करने वाले सवके द्वारा नमस्कार किये जाने के पात्र वन जाते हैं। सचमुच आपकी भक्ति अचिन्त्य फल-दायक है।

हे देव! दु ख रूपी दावानल के ताप से दग्ध आत्माओ को आपकी भक्ति आषाढी मेघो की वृष्टि की तरह परम शान्ति प्रदान करने वाली है। हे भगवन्! मोहान्धकार से मूढ वनी आत्माओ के लिये आपकी भक्ति विवेक रूपी दीपक प्रज्ज्वलित करने वाली है। आकाश के वादलो की तरह, चन्द्रमा की चादनी की तरह अथवा मार्ग के छाया–वृक्षो की छाया की तरह आपकी कृपा निर्धन अथवा धनी, मूर्ख अथवा गुणी सवको समान रूप से उपकारी है। हे भगवन्! आपके चरणो के नाखूनो की कान्ति भव-शत्रुओ से त्रस्त आत्माओ को वज्र-पजर की तरह सुरक्षा प्रदान करती है।

हे देव! उन पुरुषो को धन्य है जो आपके चरणारविन्द के दर्शनार्थ दूर-दूर से भी सदा राजहसो की तरह दौडकर आते है। ससार के घोर

दुःखो से पीडित विवेकी व्यक्ति, जिस प्रकार ससार के जीव शीत से बचने के लिये सूर्य का आश्रय लेते है, उस प्रकार हे देव ! वे ससार के दु खो से वचने के लिये आपका ही आश्रय लेते हैं। हे भगवन् ! जो आपको अनिमेष-स्थिर नेत्रो से निरन्तर देखते है, वे परलोक मे निश्चित ही देवत्व (अनिमेष भाव) प्राप्त करते है, इसमे कोई आश्चर्य की बात नही। जिस प्रकार वस्त्रो का मेल स्वच्छ पानी से साफ हो जाता है, उसी प्रकार हे देव ! आपकी देशना रूपी निर्मल जल से धुलो हुई आत्मा कर्म-मल-रहित हो जाती है। हे स्वामी ! आपके नाम-मत्र का जाप करने वाले व्यक्ति को सर्व-सिद्धि-समाकर्षरण-मत्रत्व को प्राप्त कराता है।

आपकी भक्ति मे तल्लीन बनी आत्माओ को भेदन के लिये वज्र अथवा छेदन के लिये शूल भी समर्थ नही है। हे देव ! आपके आश्रय को ग्रहण करने वालो गुरुकर्मी आत्मा भी लघुकर्मी हो जाती है। क्या सिद्धरस के स्पर्श से लोहा स्वर्ण नही होता ? हे स्वामी ! आपका ध्यान, स्तवन और पूजा करने वाली आत्मा ही अपने मन, वचन और काया को सफल बनाती है। हे स्वामी ! पृथ्वी पर विहरने वाले आपके चरणो की रज मनुष्यो के पाप रूपी वृक्षो का उन्मूलन् करने के लिये महान् मदोन्मत्त हाथी का आचरण कर रही है। हे नाथ ! नैसर्गिक मोह से जन्म से ही मोहान्ध आत्माओ को केवल आप ही विवेक-चक्षु समर्पित करने के लिये समर्थ है। जिस प्रकार मन के लिये मेरु दूर नही है, उसी प्रकार से आपके चरण-कमलो मे भौरो का आचरण करने वाले सेवको के लिये लोकाग्र भी दूर नही है। जिस प्रकार वर्षा के जल से जामुन के वृक्ष से फल गिर जाते है, उसी प्रकार से आपकी देशना रूपी जल के सिचन से प्राणियो के कर्म-पाश शीघ्र ही गल जाते है। हे जगन्नाथ ! आपको वार-वार नमस्कार करके मै आपसे केवल एक ही याचना करता हूँ कि आपकी कृपा से समुद्र के जल की तरह मुझे आपकी अक्षय भक्ति प्राप्त हो।

हे स्वामी ! केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् कृतार्थ होने पर भी आप केवल लोगो के लिये ही पृथ्वी पर विहार करते है। क्या गगन-मण्डल मे सूर्य अपने स्वार्थ के लिये घूमता है ? नही, यह वात नही है। मध्याह्न मे जिस प्रकार प्राणियो की देह की छाया सकुचित हो जाती है, उसी प्रकार से हे प्रभु ! आपके प्रभाव रूपी मध्याह्नकाल का आदित्य प्राणियो की कर्मो को सकुचित कर देता है। नित्य आपके दर्शन करने वाले तिर्यचो को भी धन्य है, जवकि आपके दर्शन मे वचित स्वर्गवासी भी धन्य नही है। जिन

व्यक्तियो के हृदय रूपी चैतन्य के आप अधिष्ठाता बने है, उन भव्यात्माओ से महान् जगत मे अन्य कोई है ही नही ।

हे भगवन् ! आप कही भी हो, परन्तु हमारे हृदय का आप कदापि त्याग मत करना, यही हमारी आपसे याचना है । आपके आश्रित आपके समान बनें, इसमे तनिक भी अघटित नही है । दीपक के सम्पर्क से क्या वत्तियाँ दीपकत्व प्राप्त नही करती ? इन्द्रिय रूपी मदोन्मत्त गजेन्द्र को मदहीन करने के लिये हे स्वामी ! भैषज तुल्य आपका शासन जयवत होता है । हे त्रिभुवनेश्वर ! आप घाती कर्मो का क्षय करके शेष अघाती कर्मो की जो उपेक्षा करते है उसमे लोकोपकार के अतिरिक्त अन्य क्या कारण है ? अन्य कोई कारण नही है । जिस प्रकार चद्र-दर्शन से मद-दृष्टि व्यक्ति भी पटु हो जाता है, उस प्रकार से आपका प्रभाव देखने से बुद्धिहीन व्यक्ति भी स्तवन करने के लिये बुद्धिमान हो जाता है ।

हे स्वामी ! मोहान्धकार मे डूबे जगत् के लिय आलोक के समान आकाश की तरह आपका अनन्त केवलज्ञान विजयी हो रहा है । लाखो जन्मो से उपार्जित कर्म भी आपके दर्शन से विलीन हो जाता है । कोई ठण्ड से पत्थर के समान जमा हुआ घी भी क्या वह्नि से नही पिघलता ? हे स्वामी ! पिता, माता, गुरु अथवा स्वामी समस्त मिलकर भी जो हित नहीं कर सकते, वह आप अकेले अनेक के समान बन कर जगत का हित करते है । जिस प्रकार रात्रि चद्रमा से सुशोभित होती है जिस प्रकार सरोवर हसो से सुशोभित होता है और मुख-कमल जिस प्रकार तिलक से सुशोभित होता है, उसी प्रकार हे त्रिलोकीनाथ ! तीनो लोक केवल ज्ञान के द्वारा ही सुशोभित हो रहे हैं ।"

प्रश्न—हे भगवन् ! स्तोत्र-स्तुति रूपी मगल के द्वारा जीव क्या उपार्जन करता है ?

उत्तर—स्तोत्र-स्तुति रूपी मगल के द्वारा जीव ज्ञान, दर्शन, चारित्र और बोधि का लाभ प्राप्त करता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और बोधि-लाभ को प्राप्त किया हुआ जीव अतक्रिया करके उसी भव मे मोक्ष प्राप्त करता है।

श्री जिन-गुण-स्तवन की महिमा अद्भुत है। श्री जिनेश्वर देवो के अद्भुत गुणो का वर्णन करने वाले शब्द मत्राक्षर स्वरूप हो जाते है। उनसे महान भय भी नष्ट हो जाते है। शब्द शास्त्र के अचूक नियमानुसार प्रयुक्त शब्दो के द्वारा रचित श्री जिन-गुण-महिमा-गर्भित स्तोत्रो से चमत्कारपूर्ण वृत्तान्त बनने के अनेक उदाहरण शास्त्रो मे वर्णित दृष्टिगोचर होते है। उस प्रकार के अनेक स्तोत्र आज भी विद्यमान है कि जिनके द्वारा प्राचीन काल मे अपूर्व शासन-प्रभावना एव चमत्कार हो चुके है। स्थिर अत करण वाले व्यक्ति उन स्तोत्रो का आज भी जाप करते है, जिससे पाप का प्रणाश होने के साथ इष्ट कार्यो की अविलम्ब सिद्धि होती है।

श्री जिन-गुण-स्तवन की महिमा प्रदर्शित करते हुए श्री सिद्धसेन-दिवाकरसूरीश्वरजी ने एक स्थान पर कहा है कि—

"श्री जिन-गुण का स्तवन, जाप अथवा पाठ अथवा श्रवण, मनन अथवा निदिध्यासन अष्ट महासिद्धियो को प्रदान करने वाला है, समस्त पापो को रोकने वाला है, समस्त पुण्य का कारण है, समस्त दोषो का नाशक है, समस्त गुणो का दाता है, महा प्रभावशाली है, भवान्तर-कृत अपार पुण्य से प्राप्त है तथा अनेक सम्यग्-दृष्टि, भद्रिक भाव वालो, उत्तम कोटि के देवो एव मनुष्यो आदि से सेवित है। चराचर जीव लोक मे ऐसी कोई उत्तम वस्तु नही है जो श्री जिन-गुण-स्तवन आदि के प्रभाव से भव्य जीवो के हाथ मे नही आये।"

"श्री जिन-गुण स्तवन के प्रताप से चारो निकायो के देवता प्रसन्न होते है, पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश आदि भूत (तत्त्व) अनुकूल होते है, साधु पुरुष उत्तम मन से अनुग्रह करने मे तत्पर होते है, खल पुरुषो का क्षय होता है, जलचर, थलचर एव गगन-चर क्रूर जन्तु मैत्रीमय हो जाते है और अधम वस्तुओ का स्वभाव उत्तम हो जाता है। इससे मनोहर धर्म, अर्थ और काम गुण प्राप्त होते है, समस्त ऐहिक सम्पत्ति—शुद्ध,

गोत्र, कलत्र, पुत्र, मित्र, धन, धान, जीवन, यौवन, रूप आरोग्य एव यश आदि प्रमुख सम्पदा सम्मुख होती है, आमुष्मिक स्वर्ग-अपवर्ग की लक्ष्मी मानो आलिंगन करने के लिये दौडी हुई आती है तथा सिद्धि एव समस्त श्रेयस्कर वस्तुओ का समुदाय स्वत ही आकर प्राप्त होता है। सक्षेप मे श्री जिन-गुण का अनुराग समस्त सम्पदाओ का मूल है।"

श्री जिन-नाम-स्तवन-महिमा—

श्री जिनेश्वर देवो का स्वरूप अगम है, अगोचर है, फिर भी उनके गुणो से आकर्षित सत्पुरुष उन्हे बुद्धि-गोचर करने के लिये अनेक विशेषणो के द्वारा उनकी स्तवना करते हैं। उनमे से कुछ (श्री सिद्धसेनदिवाकरसूरि रचित श्री जिनसहस्रनाममत्र मे से) यहाँ दिये जाते है—

"परात्मा, परमज्योति, परम-परमेष्ठी, परमवेधस्, परमयोगी, परमेश्वर, सकलपुरुषार्थयोनि, अवद्यविद्याप्रवर्तनैकवीर, एकान्त कान्त-शान्तमूर्ति, भवद्-भावि-भूत-भावावभासी, कालपाशनाशी, सत्वरजस्तमो-गुणातीत, अनन्तगुणी, वाद्मनोगोचरातीतचरित्र, पवित्र, कारणकरण, तारण-तरण, सात्त्विकदैवत, तात्त्विकजीवित, निर्ग्रन्थ, परमब्रह्महृदय, योगीन्द्र-प्राणनाथ, त्रिभुवनभव्यकुलनित्योत्सव, विज्ञानानन्दपरब्रह्मैका-त्म्यसमाधि, हरिहरहिरण्यगर्भादिदेवापरिकलितस्वरूप, सम्यग्ध्येय, सम्यक्-श्रद्धेय, सम्यक्शरण्य, सुसमाहित-सम्यक्-स्पृहणीय, अर्हन्, भगवन्, आदि-कर, तीर्थकर, स्वयसम्बुद्ध पुरुषोत्तम पुरुषसिंह, पुरुषवरपुण्डरीक, पुरुष-वरगन्धहस्ती, लोकोत्तम, लोकनाथ, लोकहित, लोकप्रद्योतकारी, लोकप्रदीप, अभयद, दृष्टिद, मुक्तिद, बोधिद, धर्मद, जीवद, शरणद धर्मदेशक, धर्म-सारथि, धर्मवर-चातुरन्त चक्रवर्ती, व्यावृत्तछद्म, अप्रतिहत-सम्यग्ज्ञान-दर्शनसद्म, जिन जापक, तीर्ण-तारक, बुद्ध-बोधक, मुक्त-मोचक, त्रिकाल-वित्, पारगत, कर्माष्टक-निषूदक, अधीश्वर, शम्भु स्वयम्भू, जगत्प्रभु, जिनेश्वर, स्याद्वादवादी, सार्व, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सर्वतीर्थोपनिषद्, सर्व-पाषड-मोची, सर्वयज्ञ-फलात्म, सर्वज्ञकलात्म, सर्वयोगरहस्य केवली, देवा-धिदेव, वीतराग, परमात्मा, परम-कारुणिक, सुगत, तथागत, महाहस, हसराज, महासत्त्व, महाशिव, महाबोध, महामैत्र, सुनिश्चित, विगतद्वन्द्व, गुणाब्धि, लोकनाथ, जित-मार-बल सनातन, उत्तमश्लोक, मुकुन्द, गोविन्द, विष्णु, जिष्णु, अनन्त, अच्युत, श्रीपति, विश्वरूप, हृषिकेश, जगन्नाथ,

भूर्भुव स्व -समुत्तार, मानजर, कालजर, ध्रुव, अजेय, अज, अचल, अव्यय, विभु, अचिन्त्य, असख्य, आदिमख्येय, आदिसाख्य, आदिकेशव, आदिशिव, महाब्रह्म, परमशिव, एकानेकान्तस्वरूप, भावाभावविवर्जित, अस्ति-नास्तिद्वयातीत, पुण्यपापविरहित, सुखदु खविविक्त, अव्यक्त, व्यक्त-स्वरूप, अनादिमध्यनिधन, मुक्तिस्वरूप, नि सग, निरातक, नि शक, निर्भय, निर्द्वन्द्व, निस्तरग, निरूर्मि, निरामय, निष्कलक, परमदैवत, सदाशिव, महादेव, शकर, महेश्वर, महाव्रती, महापचमुख, मृत्यु जय, अष्टमूर्ति, भूतनाथ, जगदानन्द, जगत्पितामह, जगदेवाधिदेव, जगदीश्वर, जगदादिकन्द, जगद्भास्वत्, जगत्कर्मसाक्षी, जगच्चक्षुष, जयीतनु, अमृतकर, शीतकर, ज्योतिश्चक्रचक्री, महाज्योति,महातमःपार, सुप्रतिष्ठित, स्वयकर्ता,स्वयहर्ता, स्वयपालक, आत्मेश्वर, विश्वात्मा, सर्व-देवमय, सर्वध्यानमय, सर्वमत्रमय, सर्वरहस्यमय, सर्व ज्ञानमय, सर्व तेजोमय, सर्वभावाभावजीवजीवेश्वर, अरहस्यरहस्य, अस्पृहस्पृहणीय, अचिन्त्य-चिन्तनीय, अकामकामधेनु, असकल्पित-कल्पद्रुम, अचिन्त्यचिन्तामणि, चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकचूडामणि, चतुरशीतिजीवयोनिलक्षप्राणनायक, पुरुषार्थनाथ, परमार्थनाथ, अनाथनाथ, जीवनाथ, देवदानवमानवसिद्धसेनाधिनाथ, निरजन, अनन्तकल्याण, निकेतनकीर्ति, सुगृहीतनामधेय, धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरशान्त, धीरललित, पुरुषोत्तम, पुण्यश्लोक, शतसहस्र-लक्षकोटिवन्दित-पादारविन्द, सर्वगत, सर्वप्राप्त, सर्वज्ञान, सर्वसमर्थ, सर्वप्रद, सर्वहित, सर्वाधिनाथ, क्षेत्र, पात्र, तीर्थ, पावन, पवित्र, अनुत्तर, उत्तर, योगाचार्य, सुप्रक्षालन, प्रवर, अग्र, वाचस्पति, मागल्य, सर्वात्मनाथ, सर्वार्थ, अमृत, सदोदित, ब्रह्मचारी, तायी, दाक्षिणीय, निर्विकार, वज्रर्षभ-नाराचमूर्ति, तत्त्वदृश्वा, पारदर्शी, निरुपमज्ञानबलवीर्यतेजोऽनन्तैश्वर्यमय आदि-पुरुष, आदिपरमेष्ठी, आदिमहेश, महाज्योति सत्व, महार्चिधनेश्वर, महामोहसहारी, महासत्त्व, महाज्ञानमहेन्द्र, महालय, महाशान्त, महायोगीन्द्र, अयोगी, महामहीयान्, महासिद्ध, महीयान्, शिव-अचल-अरुज - अनन्त - अक्षय - अव्याबाध - अपुनरावृत्ति - महानन्द - महोदय - सर्वदु खक्षय - कैवल्य - अमृत - निर्वाण - अक्षर - परब्रह्म - नि श्रेयस् - अपुनर्भव, सिद्धिगतिनामधेयस्थान - सप्राप्त, चरमाचरमवान् - आदिनाथ, त्रिजगन्नाथ, त्रिजगत्स्वामी, विशाल-शासन, निर्विकल्प, सर्व लब्धिसपन्न, कल्पनातीत, कलाकलापकलित, केवलज्ञानी, परमयोगी, विस्फुरदुरुशुक्लध्यानाग्नि-निर्दग्धकर्मबीज, प्राप्तानन्तचतुष्टय, सौम्य, शात, मगलवरद्, अष्टादशदोषरहित, समस्त - विश्वसमीहित ।

श्री जिन-नाम-स्तवन—

ॐ ह्रीँ श्रीँ अर्हं नम ॥

श्री जिनेश्वर देव की स्तवना करते हुए श्री जिन-सहस्रनाम मत्र के अन्त मे आचार्य - पुरन्दर श्री सिद्धसेनदिवाकर सूरीश्वरजी महाराज ने बताया है कि—

"लोकोत्तमो निष्प्रतिमस्त्वमेव, त्व शाश्वत मङ्गलमप्यधीश ।
त्वामेकमर्हन् ! शरण प्रपद्ये, सिद्धर्षिसद्धर्ममयस्त्वमेव ॥१॥"

हे अधीश ! आप लोकोत्तम हैं, निष्प्रतिम हैं, शाश्वत हैं और मगल हैं। हे अर्हन् ! मैं आपका शरण अगीकार करता हूँ, आप ही सिद्धर्षि एव सद्धर्ममय है। (१)

"त्व मे माता पिता नेता, देवो धर्मो गुरु पर: ।
प्राणा स्वर्गोऽपवर्गश्च, सत्त्व तत्त्व गतिर्मति ॥२॥"

आप मेरी माता हैं, पिता हैं, नेता है, देव हैं, धर्म हैं, परम गुरु है, प्राण हैं, स्वर्ग एव अपवर्ग हैं, सत्त्व हैं, तत्त्व हैं, गति हैं और मति है। (२)

"जिनो दाता जिनो भोक्ता, जिन सर्वमिद जगत् ।
जिनो जगति सर्वत्र, यो जिनः सोऽहमेव च ॥३॥"

जिन दाता है, जिन भोक्ता है और समस्त जगत् जिन है, जगत मे सर्वत्र जिन है, जो जिन है वह मैं स्वय ही हूँ। (३)

"यत् किञ्चित् कुर्महे देव !, सदा सुकृतदुष्कृतम् ।
तन्मे निजपदस्थस्य, दु.ख क्षपय त्वं जिन ! ॥४॥"

हे देव ! हम जो सुकृत - दुष्कृत करते हैं, आपके चरणो मे स्थित हमारे उन दु खो का हे जिनेश्वर ! आप क्षय करें। (४)

"गुह्यातिगुह्यगोप्ता त्व, गृहाणास्मत्कृत जपम् ।
सिद्धि· श्रयति मां येन, त्वत्प्रसादात् त्वयि स्थितम् ॥५॥"

आप अत्यन्त गुह्य से भी गुह्य रक्षक हैं। हमारे द्वारा किये गये इस जाप को आप ग्रहण करें, जिससे आपकी कृपा (प्रसाद) से आप मे स्थित हमे सिद्धि प्राप्त हो। (५)

—०—

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

सन् १९८८ एवं १९८९ के नये प्रकाशन

प्रा भा पु	पुस्तक	लेखक	मूल्य
44	वज्जालग्ग मे जीवन मूल्य (प्रा हि)	डा के सी. सोगाणी	10 00
45	गीता चयनिका (स हि)	डा. के. सी सोगाणी	16 00
46	ऋषिभाषित सूत्र (प्रा हि अ)	स म विनय सागर	100 00
47	नाडि विज्ञानम्		
48	तथा नाडि प्रकाशम् (स अ)	डा. जे सी सिकदर	30 00
49.	ऋषिभाषित एक अध्ययन (हि)	डा सागरमल जैन	30 00
50	उववाइय सुत्त (प्रा हि अ)	स गणेश ललवानी	
		सजिल्द	100.00
		अजिल्द	80 00
51	उत्तराध्ययन चयनिका (प्रा. हि)	डा. के. सी सोगाणी	10 00
52.	समयसार चयनिका (प्रा हि.)	डा के सी सोगाणी	16 00
53	परमात्मप्रकाश व योगसार चयनिका (प्रा हि)	डा. के सी सोगाणी	10 00
54.	ऋषिभाषित ए स्टडी (अ)	डा सागरमल जैन	30 00
55	अर्हत् - वदना (हि)	म चन्द्र प्रभ सागर	3 00
56	राजस्थान मे स्वामी विवेकानन्द	प झाबरमल्ल शर्मा	75 00
57	श्री आनन्दघन चौबीसी (रा हि.)	स भवरलाल नाहटा	30 00
58	देवचन्द्र चौबीसी सानुवाद (रा हि)	प्र. सज्जन श्री जी	60 00
59	सर्वज्ञ कथित परम सामायिक धर्म (हि.)	विजयकलां पूर्ण सूरि	30 00
60	दु ख मुक्ति · सुख प्राप्ति (हि)	कन्हैयालाल लोढा	30 00
61	गाथा सप्तशती (प्रा. स हि)	स. हरिराम आचार्य	100 00
62	त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र (हि)	गणेश ललवानी	100 00
63	योगशास्त्र ऑफ हेमचन्द्राचार्य (स अ)	स सुरेन्द्र बोथरा	100.00
64.	जिन-भक्ति (प्रा स हि)	अ भद्र कर विजय गरिण	25 00
65	सहजानन्द घन चरिय (अप)	भंवरलाल नाहटा	20 00
66.	आगम युग का जैन दर्शन	दलसुख भाई मालवणिया	
		सजिल्द	80 00
		अजिल्द	60 00